ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

सत्यं वद | विशेषाङ्क - 18 | धर्मं चर

सम्पादक :-

आचार्य श्याम

दूरभाष - 09811064932, 09555534381

सह-सम्पादक :-

डा0 कर्णदेव शास्त्री

दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-

सतीश मेहता, रवि कोहली, कमलेश आर्या
कृष्णा झॉब, नीलम सूद, सरला सुखीजा

कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

आई-30, नारायण विहार, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 09350733444, 09555534381

प्रधान कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59

E-mail - samvardhini@yahoo.co.in
dharm.samvardhini@gmail.com

Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? .....

1.	काल-चक्र	पृष्ठ - 2
2.	सम्पादकीय	पृष्ठ - 3
3.	वेदामृतम्	पृष्ठ - 5
4.	भाषा : मानवीय विचार-विनिमय..	पृष्ठ - 25
5.	नवजीवन नवप्राण चाहिये	पृष्ठ - 28
6.	मोटापा : कारण एवं निवारण	पृष्ठ - 29
7.	महाभारत का महत्त्व	पृष्ठ - 31
8.	ऋषि दयानन्द की विशेषताएं	पृष्ठ - 33
9.	वह भी क्या कोई जीवन है ?	पृष्ठ - 36
10.	धर्म और मत का अन्तर	पृष्ठ - 36
11.	क्या आप स्वस्थ हैं ?	पृष्ठ - 37
12.	प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप में अन्तर	पृष्ठ - 41
13.	आत्मकल्याण के चार सोपान	पृष्ठ - 43
14.	घरेलू नुस्ख़े	पृष्ठ - 47
15.	दिव्य जीवन के हीरे-मोती	पृष्ठ - 48

ओ३म्

*** काल-चक्र ***

विधुं ददाणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान॥

(ऋ0 10/55/5)

[बृहदुक्थो वामदेव्यः ऋषिः। इन्द्रः देवता। पादनिचृत्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः]

– पद्यार्थ –

एक बड़े अचरज की बात॥

बड़े-बड़े युद्धों में जिसने, बहुतों को था मार भगाया।
पूरा किया विविध कामों को, जिसने अमित शौर्य दिखलाया।
ऐसा एक युवक मदमाता, विजय गर्व से चलता था,
उसने एक वृद्ध को देखा, जो सबको ही छलता था।
युवक भिड़ गया उससे तात ॥1॥

बहुत वृद्ध था, श्वेत बाल थे, कितने साल पुराना था ?
कुछ अनुमान नहीं हो पाया, भय का कहीं ठिकाना था ?
आगे बढ़ा और तब उसने नौजवान को पकड़ लिया,
पलक मारते में बुड्ढे ने, उसे निगलकर हज़म किया।
क्षण में और आ गई रात॥2॥

मैंने एक काव्य देखा है, उसमें लिखा हुआ है यह ..
'कल जीवन का दम भरता था, आज मरा है देखो वह'।
सूर्य-चन्द्र को निगल रहा है, और लोक को बुड्ढा काल,
समझ गया अब, सब अनित्य है, नित्य सत्य बस वही अकाल॥
मैंने देखा आज प्रभात..॥3॥

(पं0 वेदव्रत)

सम्पादकीय



आज हिन्दू (आर्य) समाज, जिन विषम परिस्थितियों से गुज़र रहा है, यदि जागृति और स्वकर्त्तव्य-बोध से युक्त यह न हुआ, तो इसका अस्तित्त्व धरा से समाप्त होने से कोई रोक नहीं सकता। प्राचीन भारत और वर्त्तमान भारत के दोनों मानचित्रों को आप अपने समक्ष रखकर तुलना करने बैठें, तो आप यह अवश्य देखेंगे कि हमारे देश की सीमायें सिकुड़ते-सिकुड़ते इतनी छोटी हो गयी हैं कि अब भारत में भी हिन्दुओं के अस्तित्त्व पर प्रश्नचिह्न लगने लगा है। यह ठीक है कि पिछले एक हजार सालों में इस देश को विदेशी आक्रान्ताओं ने हर दृष्टि से लूटने का प्रयास किया। उन्होंने यहाँ के धनैश्वर्य को ही नहीं लूटा, अपितु इस देश की संस्कृति को भी मिटाने का पूर्ण प्रयास किया। आक्रान्ताओं के पूर्ण प्रयास के बाद भी यदि आज हिन्दुओं का अस्तित्त्व थोड़ा-बहुत दिखाई दे रहा है, तो यह अस्तित्त्व उन बलिदानी महापुरुषों व समाज-सुधारकों के कारण ही शेष रह पाया है, जिन्होंने अपने जीवन को देश की रक्षार्थ बलिदान कर दिया था।

आज विश्व में मुस्लिम-ईसाई संस्कृति को मानने वाले अनेकों देश हैं, पर क्या कोई ऐसा देश है, जिसे हिन्दुओं का देश कहा जा सके? कभी नेपाल हिन्दुओं का देश कहा जाता था, पर आज वह भी जिस स्थिति में है, आपसे छिपा नहीं है। भारत में भी हिन्दुओं की जो स्थिति है, वह भी सन्तुष्टि योग्य नहीं है। इसका प्रथम कारण है कि राजनीतिज्ञ लोगों ने हिन्दुओं को समय-समय पर बांटकर येन-केन-प्रकारेण सत्ता में बने रहकर स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयास किया, उससे हिन्दू और अधिक कमजोर हुआ है। स्व0 संजयगांधी ने नसबन्दी का जो कार्यक्रम चलाया, उससे दूसरे मजहब वाले प्रभावित नहीं हुए, अपितु एकमात्र हिन्दू ही हुआ। आज भी देश को जिस प्रकार से जातिवाद के गर्त में डालकर अगड़े-पिछड़े का व्यवहार कर, यूजीसी जैसे काले कानूनों को लाकर हिन्दुओं को लड़ाने और बांटने का कार्य किया जा रहा है, उससे भविष्य में हिन्दूजाति के नष्ट होने की पूर्ण संभावनायें बन रही हैं। आज जितनी भी सरकारें आती हैं, वे नारे चाहें **'सबका साथ, सबका विकास'** के लगायें, पर उन्हें हिन्दुओं की कोई चिन्ता नहीं हैं। देश के 80% हिन्दू आबादी होने के बाद भी तुष्टीकरण का कार्य किया जा रहा है। आज हिन्दुओं की सरकारें होने के बाद टेक्स हिन्दुओं से लिया जा रहा है। हिन्दू मन्दिरों की सारी कमाई सरकार ले रही हैं और मलाई वे खा रहे हैं जिन्हें इस देश व संस्कृति से प्रेम नहीं हैं। दूसरे मत वालों की जनसंख्या विस्फोट और सरकारों की तुष्टीकरण-नीति, इस पर भी यदि हिन्दू अपनी आँखें न खोले, तो इस जाति को कौन बचा सकता है ? हिन्दुओं की सबसे बड़ी कमी है - **इसका सिद्धान्तविहीन होना।**

आज धर्म कथाएं सुनी अवश्य जाती हैं, पर धर्म की उचित परिभाषा का अधिकांश हिन्दुओं को पता ही नहीं है। आज का हिन्दू सिर्फ इसलिये हिन्दू है कि उसका जन्म हिन्दू परिवार में हुआ है। इसके अतिरिक्त उसके जीवन में कौन-सा ऐसा कार्य व व्यवहार है, जिससे वह अपने को गर्व के साथ हिन्दू सिद्ध कर सके ? हिन्दुओं की धर्म-संस्कृति के प्रति उदासीनता, नौकरी लग जाने की चाहत, अर्थलोलुपता का आधिक्य, खाओ-पीओ मौज करो जैसे सिद्धान्तों को अपनाने की प्रबल इच्छा, बालकों में स्वधर्म के संस्कार न देकर, उन्हें भौतिक संसाधनों से पूरित करने का भाव - ये सब ऐसे कार्य हैं जिनसे कुछ समय तक भोग तो भोगे जा सकते हैं, पर स्वधर्म की रक्षा नहीं की जा सकती। यदि ऐसा होता तो क्या कश्मीरी-पण्डितों को कश्मीर छोड़कर शरणार्थी बनना पड़ता। आज भारत में अनेकों ऐसे राज्य हैं जिनमें हिन्दू आबादी घट गई है। वे अपने त्यौहार भी ठीक प्रकार से नहीं कर सकते। मन्दिरों पर लाउड- स्पीकर नहीं लगा सकते। यदि लगाने का प्रयत्न किया जाता है तो दूसरे मजहब के लोग उसका विरोध करते हैं। सरकारें हमारी सुनती नहीं, संगठन हमारा है नहीं, ऐसी स्थिति में यदि हिन्दुओं के अस्तित्त्व पर प्रश्नचिह्न न लगे तो और क्या लगे ?

ऐसी भयावह विषम परिस्थिति में **'धर्म संवर्द्धिनी सभा'** का संकल्प है कि हिन्दू-जागृति का विशेष अभियान निरन्तर चलाया जाय। हिन्दू-परिवारों को भारतीय संस्कृति से परिचित कराया जाय। उन स्थानों पर भी धर्म व संस्कृति के विचारों को पहुँचाने का कार्य किया जाय, जहाँ ज्ञान के प्रकाश की किरण आजतक पहुँच ही नहीं सकी है। उन ग़रीब-अनाथों का सम्बल बना जाय, जो लोभ-लालच के कारण स्वधर्म को छोड़कर ईसाई या मुस्लिम मत को स्वीकार करने को तैयार हैं। यदि कोई भूल से उस भ्रष्टमार्ग पर चला भी गया तो उसको पुनः स्वधर्म में दीक्षित करना, यह भी हमारा उद्देश्य है।

'धर्म संवर्द्धिनी सभा' लगभग दो दशक से वैदिकधर्म के संवर्द्धन के कार्य के निमित्त पारिवारिक सत्सङ्ग, बालक-बालिकाओं के शिविरों का आयोजन, सत्साहित्य का प्रकाशन, अनाथ बच्चों को गुरुकुलीय वातावरण में रखकर उन्हें शिक्षित कर, उनका सहयोग करना-कराना, अस्वस्थ लोगों को योग और आयुर्वेद से संयुक्त करना आदि-आदि कार्य निरन्तर करती जा रही है, और आगे भी इसी प्रकार करती रहेगी, ऐसा दृढ़ संकल्प है।

बस, आवश्यकता है उन लोगों के हमारे साथ जुड़ने की, जिनको न किसी प्रकार की लोकेषणा की चिन्ता है, और न वित्तेषणा की। यदि उनमें भावना है तो मात्र इतनी कि मेरे जीवन से किसी को सहारा मिल जाये, किसी को सुमार्ग का दर्शन प्राप्त हो जाय और वह कुमार्ग को छोड़कर सुमार्ग का पथिक बनकर वैदिकधर्म और भारतीय संस्कृति के साथ अपने को संयुक्त कर ले, तो इससे अधिक मेरे लिए और पुण्य क्या हो सकता है ? ऐसी भावना वाले लोग यदि हमारे साथ जुड़ने के इच्छुक हों, तो हम उनका स्वागत अवश्य करेंगे। ❐

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आ क्षियेम॥

(अथ0 6/117/3)

(ऋषिः अनृणकामः कौशिकः। देवता अग्निः। छन्दः त्रिष्टुभः। तृचं सूक्तम्)

पदच्छेदः –

अनृणाः। अस्मिन्। नः। अनृणाः। परस्मिन्। तृतीये। लोके। अनृणाः। स्याम। ये। देवयानाः। पितृयाणाः। च। लोकाः। सर्वान्। पथः। अनृणाः। आ। क्षियेम॥

शब्दार्थः –

(**अनृणाः**) बिना ऋण वाला, अर्थात् बिना क़र्ज़े वाला (**अस्मिन्**) इस (**नः**) हम लोग (**अनृणाः**) बिना क़र्ज़े वाले (**परस्मिन्**) दूसरे लोक में (**तृतीये**) तीसरे (**लोके**) लोक में (**अनृणाः**) बिना क़र्ज़े वाले (**स्याम**) होवें (**ये**) जो (**देवयानाः**) देवताओं के (**पितृयाणाः**) पितरों के (**च**) और (**लोकाः**) लोक हैं (**सर्वान्**) उन सभी (**पथः**) जाने वाले मार्ग को (**अनृणाः**) बिना क़र्ज़े वाले होकर (**आ**) अच्छी प्रकार से (**क्षियेम**) प्राप्त करें।

भावार्थः –

(**प्रथम**) हे मनुष्यो ! हम लोग इस संसार में बिना क़र्ज़े वाले होकर रहें। दूसरे लोक में भी बिना क़र्ज़े वाले तथा तीसरे लोक में भी बिना क़र्ज़े वाले होकर रहें। देवताओं और पितरों के जो लोक हैं और उनकी ओर जाने वाले जो भी मार्ग हैं, उनमें भी हम बिना क़र्ज़े वाले होकर उन लोकों को प्राप्त करें।

(**द्वितीय**) हम इस ब्रह्मचर्याश्रम अवस्था में ब्रह्म की साधना करते हुए ऋषि-ऋण से उऋण होवें। गृहस्थाश्रम में सन्तानों को उत्तम ज्ञान व संस्कार देकर उत्कृष्ट पोषण के द्वारा पितृ-ऋण से उऋण होवें। देवताओं के समान यज्ञादि कार्य कर, यज्ञमय जीवन बनाते हुए देव-ऋण से उऋण होवें। जो देवताओं के दिव्य कार्य तथा पितरों के रक्षात्मक कार्य हैं, उन मार्गों का अनुगमन कर, उनके ऋण से उऋण होकर हम दिव्य लोकों को प्राप्त करें।

व्याख्या –

प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि **'कौशिक'** हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वामित्र का दूसरा नाम **'कौशिक'** है, क्योंकि वह कुशिक ऋषि के पुत्र हैं। कौशिक शब्द **'कुश्'** धातु के साथ **'उन्'** प्रत्यय लगाने पर **'कुशिक'** शब्द और उस **'कुशिक'** में जब **'अण्'** प्रत्यय का सम्प्रयोग किया जाता है तो कौशिक शब्द की सिद्धि होती है। कौशिक शब्द जहाँ विश्वामित्र के विशेषण के रूप में जाना जाता है, वहाँ गुप्तनिधि के जानने वाले को भी **कौशिक** कहा जाता है। ऋग्वेद (1/10/11) में कौशिक जीवात्मा और गुरु के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अस्तु, हम यहाँ मात्र इतना ही निवेदन करना पर्याप्त समझते हैं कि जिस ऋषि ने इस मन्त्र का साक्षात्कार किया, उस ऋषि का नाम **कौशिक** अथवा **विश्वामित्र** है।

इस मन्त्र का देवता **'अग्नि'** है। अग्नि शब्द का सामान्य अर्थ है – जो पूजा करने के योग्य है और जो सबको आगे ले जाने की क्षमता वाला है। तभी तो यास्क ने **'अग्रणीर्भवति'** कहकर 'वह आगे बढ़ता है और दूसरों को भी आगे बढ़ाता है, ऐसे अग्रणी-पुरुष को **'अग्नि'** कहा है। मन्त्र में प्रयुक्त **'देव'** और **'पितर'** ये ऐसी शक्तियाँ हैं जो अपने जीवन का प्रत्येक क्षण समाज के लोगों को सन्मार्ग पर चलाने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। इस कार्य में उनका सम्पूर्ण जीवन क्यों न व्यतीत हो जाये, पर वे अपने इस लक्ष्य को किसी भी विपरीत परिस्थितियों में त्यागते नहीं हैं; इसलिये वे आगे ले जाने वाले होने के कारण **'अग्नि'** ही हैं, ऐसा स्वतः सिद्ध है।

प्रिय पाठकगण ! अब हम जिस मन्त्र पर विचार करेंगे, उस मन्त्र में एक प्रमुख शब्द है – **'अनृण'**। अनृण शब्द **अन्+ऋण** दो शब्दों के योग से बना है। संस्कृत भाषा में जब किसी शब्द से पूर्व **'अ'** और **'अन्'** शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो उस शब्द का अर्थ **नकारात्मक** रूप में प्रकट होने लगता है। जैसे – भाव से पूर्व यदि **'अ'** लगा दें तो शब्द बनेगा **'अभाव'** अर्थात् बिना भाव वाला या बिना अस्तित्व वाला। **'हित'** के पूर्व यदि **'अ'** लगा दिया जाय तो शब्द बनेगा **'अहित'** अर्थात् बिना कल्याण वाला। इसी प्रकार **'अर्थ'** से पूर्व यदि **'अन्'** लगा दिया जाय, तो शब्द होगा **'अनर्थ'** अर्थात् बिना अर्थ वाला। **'अक्ष'** के साथ यदि **'अन्'** लगा दिया जाय, तो शब्द बनेगा **'अनक्ष'** अर्थात् बिना आँख वाला। इस प्रकार **'अ'** और **'अन्'** के प्रयोग से व्यवहार में अनेकों शब्द बनाये जा सकते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में जिस **'अनृण'** शब्द का प्रयोग अनेकों बार किया गया है, उसमें भी **'ऋण'** शब्द से पूर्व **'अन्'** शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है – **बिना क़र्ज़े वाला**। पर इस **'अनृण'** शब्द में मुख्य शब्द है – **'ऋण'**। हम सब जानते हैं कि **'ऋण'** शब्द **'ऋ गतौ'** धातु के साथ **'क्त'** प्रत्यय के योग से बना है, जिसका एक अर्थ है – **क़र्ज़ा, दायित्त्व** या **उधारी।** जब इस **'ऋण'** शब्द से पूर्व **'अन्'** शब्द का सम्प्रयोग किया गया, तो शब्द बना **'अनृण'** अर्थात् – **बिना क़र्ज़े वाला।**

जब वेदमन्त्र का स्पष्ट सन्देश यह है कि तुम संसार में बिना क़र्ज़े वाले होकर रहो और

आगे भी जितनी-जितनी जीवनयात्रा जिस प्रकार से भी हो, उसमें भी बिना क़र्ज़े वाले होकर रहते हुए आगे भी बढ़ना है, तब क्या हमारे मन में यह प्रश्न नहीं आयेगा कि - **'क्या हम सब इस संसार में क़र्ज़े से युक्त हैं ? क्या हमारे ऊपर किसी का ऋण शेष है, जिसे हमने इस संसार में रहकर चुकाना है ?'**

जब हम इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करेंगे तो उत्तर आयेगा कि - **'हम सब पर कुछ न कुछ ऋण (क़र्ज़ा) अवश्य है। जब तक हम उस क़र्ज़े अर्थात् ऋण को चुका नहीं देते, तब तक हम उस ऋण से उऋण नहीं हो सकते।'**

भौतिक दृष्टि से जब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे तो हमारे भारतदेश में उत्पन्न होने वाला प्रत्येक बच्चा क़र्ज़ से युक्त दिखाई देगा। सरकारें चाहे किसी भी पार्टी की क्यों न हो, पर जब देश की अर्थ-व्यवस्था ठीक करने के लिए शासन करने वाली सरकारें विश्व-बैंक से अरबों-खरबों रुपया ऋण के रूप में ले लेती हैं, तो उस क़र्ज़े का भागीदार प्रत्येक वह बच्चा भी होता है, जिसने अभी माँ की कोख से जन्म लेकर भारतभूमि में पदार्पण किया है। इसलिये हम सब भौतिक दृष्टि से भी क़र्ज़दार हैं।

कल्पना कीजिये एक ऐसे देश व राष्ट्र की, जिस पर किसी भी प्रकार का कोई क़र्ज़ा न हो। वह राष्ट्र अपने-आप में इतना सक्षम और सम्पन्न हो कि वह कमजोर राष्ट्रों को स्वयं क़र्ज़ा देने की क्षमता रखता हो, तब क्या वेद का 'अनृण' शब्द यही सन्देश देगा कि - 'तुम बिना क़र्ज़े वाले होकर रहो?' आज भारत की वह स्थिति नहीं है, जो पूर्वकाल में भी। महाभारत काल से पूर्व यह भारतदेश हर प्रकार से सम्पन्न देश था, जो आपसी फूट और विदेशी आक्रान्ताओं की लूट के कारण दारिद्र्यता की स्थिति तक पहुँच गया; अन्यथा इस देश को लोग **'सोने की चिड़िया'** कहा करते थे। इस देश की सम्पन्नता का अनुमान आप इसी उदाहरण से लगा सकते हैं कि यदि कोई अतिथि किसी द्वार पर आकर पानी पीने की इच्छा प्रकट करता था, तो इस देश के निवासी उसे पानी के स्थान पर दूध पिलाया करते थे। यहाँ का प्रत्येक निवासी इतना सम्पन्न था कि इस देश में किसी भी प्रकार की चोरी ही नहीं होती थी। इस देश के किसी भी घर में ताले नहीं लगते थे, तभी तो संस्कृत भाषा में ताला शब्द बना ही नहीं था। क्योंकि जो चीज़ है ही नहीं, उसके लिए शब्द निर्माण की क्या आवश्यकता ? इस देश का ज्ञान-विज्ञान इतना समुन्नत था कि विदेशी लोग इस देश के गुरुओं के चरणों में बैठकर विविध प्रकार के ज्ञान और अध्यात्म की शिक्षा प्राप्त किया करते थे। यह देश **'विश्वगुरु'** के नाम से प्रसिद्ध था। यह देश आर्यों अर्थात् श्रेष्ठ लोगों का देश था, इसलिये इस देश का प्राचीन नाम **'आर्यावर्त्त'** था। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने **'सत्यार्थप्रकाश'** के एकादश समुल्लास में इस देश पर अपने भाव अभिव्यक्त करते हुए लिखा है -

'आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारस मणि है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।'

इससे आप यह तो अनुमान कर ही सकते हैं कि हमारा भारतदेश आज जिस सम्पन्नता या विपन्नता की स्थिति में है, पूर्वकाल में ऐसा नहीं था। अब आप कल्पना कीजिये कि यदि ऐसे सुसम्पन्न ऐश्वर्ययुक्त राष्ट्र में आपका जन्म हुआ हो, तब क्या आपको जीवन में बिना क़र्ज़े वाला होने के लिए यत्न नहीं करना पड़ेगा? तब भी उत्तर आयेगा – **'अवश्य'**।

अब आपको स्वयं आश्चर्य होगा कि जब हमने सम्पन्न राष्ट्र में जन्म लिया है, तब किसी का ऋण या क़र्ज़ा कैसा ? इस जिज्ञासा का उत्तर आपको तभी प्राप्त होगा, जब आप किसी विद्वान् का सानिध्य करेंगे अथवा भारतीय संस्कृति के उन पृष्ठों का अवलोकन करेंगे, जिनमें जीवन की साफल्यता व उत्थान के सूत्र सन्निहित हैं, जो उस काल में भी सत्य थे, आज भी सत्य हैं और भविष्य में भी सत्य ही होंगे। जब आप इस जिज्ञासा का समाधान जानने को उत्सुक होंगे, तब प्राचीन-शास्त्र इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए आपको सन्देश देंगे –

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैः ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः ॥ (तैत्तिरीय संहिता 3/10/5)

अर्थात् – संसार में जन्म लेते ही प्रत्येक मनुष्य **ऋषि**, **देव** और **पितृ** ऋणों से ऋणी स्वयमेव हो जाता है। इस ऋण से उऋण होने का एकमात्र उपाय है कि – **ब्रह्मचर्य** के द्वारा **ऋषिऋण** का, **यज्ञ** के द्वारा **देवऋण** का और **सुसन्तान** के द्वारा **पितृऋण** से उऋण होने का प्रयत्न किया जाय।

अब आप यहाँ पर महर्षि मनु के उस आदेश का भी अवलोकन कर लीजिये, जिसमें उन्होंने संन्यासाश्रम में प्रवेश करनेवाले साधक के लिए स्पष्ट सन्देश दिया है –

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनापाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥
(मनु0 6/35)

अर्थात् – तीन ऋणों को चुकाकर ही या तीन आश्रमों को पार करके ही मोक्ष में मन लगाने हेतु संन्यासाश्रम में प्रवेश करे। बिना ऋण चुकाये मोक्ष चाहने वाला संन्यासी शीघ्र ही नीचे गिर जाता है, अर्थात् पतित हो जाता है।

भागवत् पुराणकार ने भी तीनों ऋणों से उऋण होने का सन्देश देते हुए कहा है –

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत् ॥
(भा0 10/84/39)

अर्थात् – ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – ये तीनों वर्ण **देव, ऋषि,** एवं **पितृ** ऋण को लेकर उत्पन्न होते हैं। इन ऋणों से उऋण होने का उपाय है – **यज्ञ, अध्ययन** और **सन्तानोत्पत्ति**। इनसे उऋण हुए बिना जो मनुष्य संसार में रहता है, वह निश्चित ही पतित माना जाता है।

उपर्युक्त प्रमाणों का अवलोकन कर, यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि संसार में जन्म लेने वाले मनुष्य पर तीन प्रकार के ऋण हैं – **देवऋण, पितृऋण** और **ऋषिऋण**। अब वेद के उपदेश के आधार पर हम सबको अपने जीवन में इन तीनों ऋणों से उऋण होने का कार्य अवश्य करना चाहिये।

आईये, इन तीनों ऋणों पर थोड़ा-सा चिन्तन एवं विचार करके देखें -

(1) देवऋण -

संस्कृत और हिन्दीभाषा में अनेक स्थानों पर **'देव'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। **'देव'** शब्द **'दिवु'** धातु से बनता है, जिसके **क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, कान्ति** और **गति** अर्थ होते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने **'सत्यार्थप्रकाश'** के प्रथम समुल्लास में इन सभी अर्थों का विशेष परिचय देते हुए स्पष्ट कहा है कि ये सभी लक्षण जिस शक्ति में घटित होते हों, वह **'देव'** है।

महर्षि यास्क जी ने निरुक्त ग्रन्थ में **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा'** अर्थात् 'देव' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं - 'जो देता है, जो स्वयं में प्रकाशित होता है, जो दूसरों को प्रकाशित करता है तथा जिसका उच्च स्थान सम्मान में रूप में सबको करने योग्य है, वह **'देव'** है।'

प्रस्तुत **'देव'** शब्द को हम दो प्रकार से देख सकते हैं - **प्रथम** है - परमदेव परमात्मा और **द्वितीय** है - जड़ देव; सूर्य-चन्द्र, वायु आदि। इन जड़ देवों को शास्त्रों में **वसु** भी कहा है। वसु का अर्थ है - जिनके द्वारा मनुष्य जीवन बसता है या स्थिर रहता है । कहा भी है -

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ (यजु0 14/20)

अर्थात् - इस संसार में जो अच्छे गुणों वाले पदार्थ हैं, वे दिव्य गुण-कर्म और स्वभाव वाले होने से **देवता** कहाते हैं, और जो देवताओं का देवता होने से **महादेव** सबका धारक, रचक, रक्षक, सबकी व्यवस्था और प्रलय करने हारा सर्वशक्तिमान् दयालु न्यायकारी उत्पत्ति धर्म से रहित है, उस सबके अधिष्ठाता परमात्मा को सब मनुष्य [देव] जानें।

इस मन्त्र की विवेचना के आधार पर परमात्मा भी देव है और सूर्य-चन्द्र-वायु आदि भी देव हैं। हाँ, यदि इनमें अन्तर देखने का प्रयत्न करें तो जितने भी सूर्य-चन्द्रादि देव हैं, परमात्मा उन सबका धाता, अधिष्ठाता एवं नियामक देव होने के कारण **परमदेव** है। **'देव'** शब्द में जब **'महत्'** शब्द का सम्प्रयोग किया जाता है तो **'महादेव'** शब्द सिद्ध होता है। **'यो महतां देवः स महादेवः'** जो महान् देवों का भी देव अर्थात् विद्वानों का विद्वान्, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है, इस कारण से उस परमात्मा को **महादेव** या **परमदेव** कहना चाहिये। क्योंकि वही सबका अधिष्ठाता होकर ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों में व्यापक है। उपनिषद् का भी ऐसा ही सन्देश है -

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेता0 6/11)

अर्थात् - वह एक ही देव जो सर्व व्यापक, सर्वान्तर्यामी होकर सब प्राणियों और पदार्थों में व्यापक है, वही सबके कर्मों का

यथार्थ दृष्टा, ज्ञानी, अद्वितीय और सत-रज-तम गुणों से रहित होकर सबके कर्मफल का प्रदाता, और सबका आधार है।

अब इन दोनों प्रकार के देवों की दिव्यता और स्व-जीवन के अस्तित्त्व के परिप्रेक्ष्य में जब हम विचार करेंगे तब आपको आभास होगा कि प्रत्येक स्थान व कार्य के मूल में परमात्मा की कृपा ही है। संसार का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जो बिना ईश्वर की कृपा के सम्पन्न होता हो। उदाहरण के लिए यदि जड़ देवता सूर्य-वायु-अग्नि आदि देवों की मनुष्य जीवन में कहीं उपयोगिता है, तो उस कार्य में भी कृपा परमेश्वर की ही दिखाई देगी। क्योंकि संसार में जितने भी जड़ पदार्थ गतिमान व प्रकाशमान दिखाई दे रहे हैं, वे सब अपनी सत्ता से गतिमान् व प्रकाशवान् नहीं हैं, अपितु उस परमात्मा की व्यवस्था और शक्ति से गतिमान हैं। कहा भी है -

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभातिसर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (श्वेता0 6/11)

अर्थात् - संसार में जितने भी ग्रह-नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र-तारे-विद्युत-अग्नि आदि पदार्थ हैं, इन जड़-पदार्थों में स्वयं का प्रकाश किञ्चित् भी नहीं है। इनमें जो भी प्रकाश व गति दिखाई देता है, वह तो उस परम प्रकाशवान् परमात्मा का ही है। उसी से यह प्रकाश प्राप्त कर, इस संसार को प्रकाशित कर रहे हैं।

उपनिषदों में एक अन्य उपनिषद् है - **केनोपनिषद्।**

उस उपनिषद् का प्रारम्भ ही प्रश्नवाचक संस्कृत शब्द **'केन'** से हुआ है। **'केन'** शब्द का अर्थ है - **किससे**। अर्थात् ये सब मन-प्राण आदि समस्त जड़ पदार्थ किसके कारण अपने-अपने कार्यों को करने में संलग्न हैं ? क्योंकि जड़ पदार्थ बिना किसी चेतन सत्ता की शक्ति के स्वयं गतिमान नहीं हो सकते। इसलिये उपनिषद् की प्रथम कण्डिका में सीधा प्रश्न करते हुए जिज्ञासु अपने आचार्य से पूछता है -

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रेति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ (केन0 1/1)

अर्थात् - किसकी प्रेरणा से मन गतिवान् होता दिखाई देता है ? किसकी प्रेरणा से प्राण निरन्तर कार्य करता दिखाई देता है ? किसकी प्रेरणा से वाणी बोलने का कार्य करती है और किसकी प्रेरणा व आज्ञा से चक्षु और श्रोत्रादि देव अपने-अपने कार्य करने में संलग्न हैं ?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर इसी उपनिषद् में आगे की कण्डिका में उपस्थित करते हुए निम्न प्रकार से कहा है -

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुष-श्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (केन0 1/2)

अर्थात् - आचार्य कहते हैं - हे जिज्ञासु वत्स ! श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी की वाणी, प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु एकमात्र वही परमदेव है। जो इस बात को जानकर उस

परमदेव को जानने का प्रयत्न करता हुआ साधना मार्ग पर चलता है, वही साधक इस लोक के अनन्तर अमृत अर्थात् आनन्द पद को प्राप्त कर लेता है। इसलिये **'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'** तू उस ब्रह्म को जान।

आचार्य फिर अपने शिष्य को पुनः समझाते हुए कहते हैं –

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (केन0 2/5)

अर्थात् – हे वत्स ! यदि तूने इस मनुष्य जन्म को प्राप्तकर, उस परमदेव परमात्मा को जान लिया तो ठीक है, और यदि नहीं जाना तो समझ, फिर तेरा विनाश ही विनाश अर्थात् महाविनाश है। संसार में जितने भी साधक लोग हैं, वे संसार के एक-एक पदार्थ का चिन्तन करते-करते इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सबका मूल तत्त्व वही परमदेव परमात्मा है। ऐसे दृढ़ विश्वासी साधक श्रद्धालु लोग ही मृत्यु के अनन्तर उस परमदेव के अमृत पद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

अब प्रश्न होता है यदि जड़ देव और उनके अधिष्ठाता परमदेव का ऋण हम सबके ऊपर है, तो उस ऋण से उऋण होने का साधन क्या है ? इसका उत्तर देते हुए शास्त्र स्पष्ट कहते हैं – **'यज्ञेन देवेभ्यः'** अर्थात् देवताओं के ऋण से उऋण होने का एकमात्र साधन है – **'यज्ञ'**।

अब यहाँ आपके मन में एक शङ्का यह भी उपस्थित हो सकती है कि – 'यज्ञ परमदेव परमात्मा के लिए किया जाय या सूर्य-चन्द्रादि जड़ देवों के लिए ?' इसका समाधान यह है कि यज्ञ दोनों के लिए ही करना आवश्यक है। हमारे ऋषियों ने जिस यज्ञ-पद्धति का निर्धारण किया है, उसमें परमात्मा के निमित्त **ब्रह्मयज्ञ** का और जड़ देवों के लिए **देवयज्ञ** का विधान किया है। ब्रह्मयज्ञ अर्थात् सन्ध्योपासना, जिसको प्रातः-सायं करना अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि मनुजी की तो यह मान्यता है –

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥ (मनु0 2/103)

अर्थात् – जो मनुष्य प्रातः-सायं सन्ध्या उपासना अर्थात् ब्रह्मयज्ञ नहीं करता, उसे द्विजकुल से निकालकर शूद्रकुल में रख देना चाहिये।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्मयज्ञ करना परम आवश्यक है। यह यज्ञ जिस शैशवावस्था में गृह से अथवा गुरुगृह से प्रारम्भ होता है, जीवन पर्यन्त इस ब्रह्मयज्ञ का त्याग नहीं किया जाता। कारण कि इस यज्ञ में बाह्य द्रव्यों की आवश्यकता नहीं, वरन् अपना सम्बन्ध बाह्य जगत् से हटाकर परमपिता परमात्मा की ओर करना है। इसका लाभ यह होगा कि साधक निरहङ्कार होकर कृतघ्नता के दोष से बच जायेगा। **कृतघ्नता वह है जो किसी के किये हुए उपकार को न माने।** जब सब ओर परमात्मा की कृपा ही कृपा है, तो उस कृपा का ऋण आप कुछ वस्तु देकर चुका नहीं सकते। क्योंकि जिस पदार्थ को भी आप देना चाहें, वह पदार्थ परमात्मा का ही है, उसमें आपका क्या ? तब परमात्मा की

वस्तु परमात्मा को देना, क्या उत्तम होगा ? दूसरी बात यह कि परमात्मा अशरीरी है, उसके हमारे जैसा शरीर नहीं, वह निराकार है। उस निराकार परमात्मा को साकार पदार्थ आप दे ही कैसे सकते हैं ? तब एक ही उपाय बचता है कि आप उस परमात्मा का मन-बुद्धि आत्मा द्वारा कृतज्ञता ज्ञापित करें। कहा भी है -

पास है साधन न किंचित् भाव हैं उर में अपरिमित।
क्यों नहीं दृग सीप के मोती तरल दो-चार दू मैं।
क्या तुम्हें उपहार दूँ मैं ॥

यहाँ भी कवि ने जिस दृग सीप की कल्पना की है, उसका भाव यही है कि मैं अपने आत्मीय भाव द्वारा उस परमदेव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर सकूँ। यदि ऐसा न कर सका, तो निश्चित ही कृतघ्नता के दोष का भागी बनूँगा। हाँ यदि इस कार्य में मन का चाञ्चल्य कुछ विघ्न उपस्थित करने का दुस्साहस भी करे, तो मैं प्रथम स्वाध्याय द्वारा अपने मन की वृत्ति को रोकने का प्रयास करूँगा, पश्चात् फिर परमात्मा के जप करने का कार्य करूँगा। इस कार्य में हमें योगादि साधनों का सम्प्रयोग भी सहायक होगा। उससे हमारे मन की गति बाह्य जगत् से पृथक् होकर अन्दर की ओर बन जायेगी, और हमारा ध्यान परमात्मा में स्थिर हो जायेगा। तभी तो महर्षि वेदव्यास जी लिखते हैं -

स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

साधक, स्वाध्याय योग-जप-तप से परमात्मा का साक्षात्कार करने योग्य बन जाता है।

इसलिये शास्त्रों की मान्यता है कि **यज्ञ** द्वारा ही **देवऋण** से उऋण हुआ जा सकता है।

अब थोड़ा सूर्यादि जड़देवों पर भी विचार कर लें। वैसे तो हम सब जानते हैं कि जड़ वस्तु बिना किसी चेतन सत्ता के कार्य नहीं कर सकती। इन सब ग्रह-उपग्रह-नक्षत्रादि पदार्थों का अस्तित्त्व बिना परमात्मा की कृपा के सम्भव नहीं है। पर इनका भी मानव जीवन के अस्तित्त्व में योगदान है। परमात्मा ने प्रकृति में जिस प्रकार का ख़जाना दे रखा है, यदि हम उसका उपभोग करते रहें और उसको अपने क्रियाओं के द्वारा पोषण करने का प्रयास न करें, तो इन जड़ देवों के कोप का भाजन हमें कभी न कभी बनना ही पड़ेगा। यदि आप सूर्य-चन्द्र-पृथिवी-वायु-अग्नि आदि देवों के बिना अपने जीवन के कार्य पूर्ण नहीं कर सकते, तो इन देवों को परिशुद्ध करने और इनको परितृप्त करने के लिए यज्ञ ही एक मात्र उपाय है, जिसे शास्त्रों में **'देवयज्ञ'** कहा गया है।

'देवयज्ञ' वह प्रक्रिया है, जिसमें पृथिव्यादि विशिष्ट पदार्थों को जिसे शाकल्य कहा जाता है, उसको घृत के साथ अग्नि में आहूत किया जाता है। वे सभी पदार्थ वेदमन्त्र पढ़कर ही आहूत किये जाते हैं। मन्त्रों के द्वारा परमदेव का धन्यवाद कर, यज्ञ लाभ जानते हुए घृत-शाकल्यादि पदार्थों को अग्नि में आहूत करने से जड़ देवों का सम्पोषण होता है, जो मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक कर्म है। इसलिये कहा भी है -

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
देवकर्मणि युक्तो हि विभर्तीदं चराचरम् ॥
(मनु0 2/75)

अर्थात् – यदि और कुछ न कर सके तो भी वेदाध्ययन और देवयज्ञ नियम से अवश्य कर ले। जो देवयज्ञ करता है, वह चराचर का पोषण करता है।

किसी भक्त ने महर्षि के समक्ष जब देवयज्ञ विषयक यह प्रश्न उपस्थित किया कि – **'क्या होम करने के बिना पाप होता है ?'** तब महर्षि उत्तर देते हुए कहते हैं –

'हाँ, पाप होता है। क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिए।'

फिर महर्षि कम से कम कितनी आहुति यज्ञाग्नि में देवे, इसका संकेत करते हुए पुनः लिखते हैं –

'प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह आहुति और छः-छः माशे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून करना चाहिये, और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसीलिये आर्यवर शिरोमणि महाशय, ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक इस होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो, तो वैसा ही हो जाय।'

महर्षि द्वारा इस प्रकार का सन्देश देने का भाव यही है कि जिन प्रकृति के पदार्थों द्वारा हमारा जीवन चलता है, यदि हमारे उपभोग से उसमें क्षीणता उत्पन्न होती रही और हमने किसी प्रकार से संवर्द्धन का कार्य न किया, तो उसमें इन जड़देवों की कोई हानि नहीं होगी, अपितु इसमें हमारी ही हानि होगी। क्योंकि देव वही होता है जो देता है। जड़देव भी हमें शुद्ध वायु, शुद्ध जलादि देकर हमारा पोषण करते हैं। यदि हम उनका सम्पोषण नहीं करेंगे तो वे देव कब तक हमें अपनी कृपा का दान देते रहेंगे। अरे, हम जो भी द्रव्यादि पदार्थ देवयज्ञ द्वारा उन देवों को देते हैं, वे देव अपने स्वभाव द्वारा उनको पुनः शुद्ध रूप में वापस कर देते हैं। कहा भी है –

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा॥

(मनु0 3/76)

अर्थात् – अग्नि में डाली गई आहुति प्रथम सूर्य को पहुँचती है। सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और उस अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमने जो भी देवयज्ञ द्वारा देवताओं को पदार्थ दिये, वे पदार्थ सूक्ष्मरूप में वापस हमें ही प्राप्त होते हैं, जिनके द्वारा हमारे जीवन का सम्पोषण होता है। इस प्रक्रिया से देवताओं के उपकार का ध्यान भी रहता है और उनके ऋण से उऋण होने का कार्य भी। इसीलिये शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है – **'यज्ञेन देवेभ्यः'** देवताओं के ऋण से उऋण होने का एकमात्र साधन **यज्ञ** है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह इस यज्ञ की प्रक्रिया का प्रतिदिन निर्वहण कर, अपने को उऋण करने का प्रयत्न करे।

(2) पितृऋण –

'पितृ' शब्द **'पा रक्षणे'** धातु के साथ **'तृच्'** प्रत्यय का योग करने से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है – **'रक्षा करने वाला'**। जिनके कारण मनुष्य–जीवन की रक्षा होती है, उसमें तीन गुरुओं का विशिष्ट योगदान है, वे हैं – **माता–पिता** और **आचार्य।**

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने अपने अमर–ग्रन्थ **'सत्यार्थप्रकाश'** के द्वितीय समुल्लास का प्रारम्भ **'शतपथ ब्राह्मण'** की पंक्ति **'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद'** द्वारा उपस्थित करते हुए लिखा है कि –

'जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य, वह सन्तान भाग्यवान् है, जिस के माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों।'

संसार में किसी भी मनुष्य के साफल्य में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आप सभी सफलताओं का आंकलन करने का प्रयास करें, तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक मनुष्य की समुन्नति में तीन गुरु माता–पिता व आचार्य का योगदान अवश्य ही होगा। इन तीनों गुरुओं का यदि योगदान किसी अभाग्यवान् मनुष्य को न मिल सके, तो वह संसार में मनुष्य शरीर प्राप्त करने के बाद भी पशुवत् भी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता।

आप किसी गाय के बछड़े को यदि पानी के अन्दर छोड़ दें, तो वह तैरकर कुछ क्षण में बाहर आयेगा; पर मनुष्य की सन्तान के साथ ऐसा घटित नहीं होता। उसे तैरने की बात तो क्या, वह ठीक प्रकार से खाना–पीना, वस्त्र पहनने जैसे सामान्य कार्य भी नहीं कर सकता। हाँ, यदि आपने उसे किसी श्रेष्ठ गुरु के द्वारा कुछ शिक्षण दिलवाकर योग्य बना दिया, तो वह स्वाभाविक ज्ञान रखने वाले पशु को भी अपने अनुकूल चला सकता है। स्वाभाविक ज्ञान के साथ मनुष्य के जीवन में जो **नैमित्तिक ज्ञान** प्राप्त करने की विशिष्ट क्षमता है, वह अन्य प्राणियों में उतनी नहीं।

अब प्रश्न होता है कि –**'नैमित्तिक ज्ञान से आपका क्या अभिप्राय है ?'** तब इस प्रश्न का उत्तर होगा – 'निमित्त के द्वारा प्राप्त किया ज्ञान।' अर्थात् माता–पिता–आचार्य और सद्ग्रन्थों के माध्यम से प्राप्त किया ज्ञान। माता–पिता जिस प्रकार से बालक/बालिकाओं के शारीरिक निर्माण व पोषण में योगदान देते हैं, उससे अधिक योगदान अपने बालक को संस्कारवान् बनाने में होता है। यदि माता–पिता सन्तान के भोजनादि की व्यवस्था कर दें, पर बोलचाल–व्यवहार व संस्कार से दूर रखें, तो कभी भी वह सन्तान न बोलचाल सीख सकती है और न व्यवहार ही।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि सन्तान के निर्माण में यदि माता–पिता और आचार्य का योगदान न हो तो, वह सन्तान शारीरिक दृष्टि से तो मनुष्य रूप में दिखाई देगी, पर उसका आचार–व्यवहार पशुओं से भी अधिक निकृष्ट होगा। इसलिये महर्षि दयानन्द जी, माता–पिता और आचार्य का बालक/बालिकाओं के प्रति कर्त्तव्य स्मरण कराने हेतु लिखते हैं –

'यही माता-पिता का कर्त्तव्य कर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है, जो अपने सन्तानों की तन-मन-धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षा युक्त करना।'

(सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास)

इसी प्रकरण में महर्षि राजनीति शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् चाणक्य जी का एक श्लोक उपस्थित करते हुए लिखते हैं –

माता शत्रु पिता वैरी, येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये, हंसमध्ये बको यथा॥

(चा0 नी0 2/11)

अर्थात् – वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति नहीं कराई। वे विद्वानों की सभा में वैसे ही तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे – हंसों के बीच बगुला।

बालकों के इस प्रारम्भिक काल में यदि कहीं कठोरता का माता-पिता व आचार्य को आश्रय भी लेना पड़े, तो महर्षि महाभाष्य का निम्न श्लोक उद्धृत करते हुए लिखते हैं –

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

(महाभाष्य 8/1/8)

अर्थात् – जो माता-पिता और आचार्य, सन्तान और शिष्यों की ताड़ना करते हैं, वे जानो अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं; और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।

महर्षि इस विषय पर अपना दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए पुनः लिखते हैं –

'सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप आभूषणों को धारण कराना माता-पिता आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है।... इसीलिये वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें।' (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

अब आप कल्पना कीजिये कि जिस माता-पिता और आचार्य ने शास्त्रों के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन कर, अपने जीवन की चिन्ता न करके, मात्र अपना सर्वस्व अपनी सन्तान के निर्माण में समर्पित कर दिया, तब क्या उस सन्तान का कर्त्तव्य नहीं बनता कि वह माता-पिता और आचार्य के इस ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करे ?

महर्षि मनु जी ने तो एक स्थान पर माता-पिता के ऋणों की चर्चा करते हुए यहाँ तक लिखा है –

यं मातापितरौ क्लेशं संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्ष शतैरपि॥

(मनु0 2/237)

महर्षि मनु की दृष्टि में माता-पिता अपनी सन्तान का पालन-पोषण जिस प्रकार से दुःखों को सहकर, कर्त्तव्य की पालना करते हुए सन्तान के निर्माण करने में अपनी शक्ति व्यय करते हैं, यदि सन्तान उनके इस ऋण से उऋण होने के लिए सौ वर्ष भी प्रयत्न करे, तो भी वह सन्तान अपने माता-पिता के ऋण से कभी भी उऋण नहीं हो सकती।

जब आप महर्षि मनु के इस श्लोक पर विचार करेंगे, तब आपके मस्तिष्क में यह प्रश्न उभरकर अवश्य आयेगा कि – **'क्या कोई मनुष्य सौ वर्ष की आयु तक सेवा करने में सक्षम हो सकता है ?'** उत्तर मिलेगा – **'कभी नहीं।'** कारण, जब मनुष्य-जीवन की औसत आयु ही सौ वर्ष मानी गई है, तो अपवाद में ही कुछ लोग होंगे जो सौ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त कर पाते होंगे; अन्यथा 60-70 वर्ष की आयु में ही अधिकांश मनुष्य संसार से प्रयाण कर जाते है।। पर आप थोड़ी देर के लिये सौ वर्ष के सत्य को स्वीकार भी कर लें, तो भी मनुष्य इन सौ वर्षों में अपने माता-पिता-गुरुजनों की सेवा किसी भी प्रकार से कर ही नहीं सकता। क्योंकि बाल्यावस्था में असमर्थता के कारण बालक स्वयं ही माता-पिता व परिजनों पर आश्रित होता है, तब सेवा करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार वृद्धावस्था आने पर भी मनुष्य स्वयं में इतना अशक्त हो जाता है कि वह प्रतिदिन के अत्यावश्यक स्वकर्म भी ठीक प्रकार से जब नहीं कर पाता, तो दूसरों की सेवा कैसे कर सकेगा ?

अब रही मध्य के काल की अवस्था, जिसमें मनुष्य पढ़ाई-लिखाई, नौकरी-व्यापार, स्व-गृहस्थी के परिपालन में अपनी शक्ति व्यय करता है। तब क्या वह महर्षि मनु के अनुसार सौ वर्ष सेवा करने में सक्षम हो सकेगा ? यदि नहीं, तो स्वाभाविक है कि वह मनुष्य अनेक प्रकार के ऋणों से बंधा हुआ है। जबकि वेद भगवान् कहते हैं कि – 'हे मनुष्य ! तू इस संसार में तीनों ऋणों से उऋण होने का कार्य कर। इस कार्य को निरालस्यता व पुरुषार्थ से इस प्रकार कर कि जब तू इस संसार को छोड़कर परलोक को गमन करे तो तुझ पर किसी का भी ऋण शेष न रहे। यदि तूने ऋणों का भुगतान नहीं किया तो तू ऋण के पाश में सर्वदा के लिए बंधा रहेगा। याद रख, बन्धन वाला मनुष्य कभी भी स्वातन्त्र्य सत्ता का आस्वादन नहीं ले सकता। जैसाकि लिखा है –

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य यो गृहात्प्रव्रतेत्पुमान्।
मातरं पितरं त्यक्त्वा मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥

(शिव0 पु0, सती0 13/36)

अर्थात् – जो बिना तीनों ऋणों से मुक्त हुए ही माता-पिता को छोड़कर मोक्ष की इच्छा करता हुआ निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करता है, वह नरकगामी होता है।

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता।
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम्॥

(महा0 शा0 108/25-26)

अर्थात् – जिसने पिता को सन्तुष्ट कर लिया, उसने प्रजापति को सन्तुष्ट कर लिया। जिसने माता को प्रसन्न कर लिया, उसने सारी पृथिवी की पूजा कर ली। जिसने गुरु की प्रसन्नता प्राप्त कर ली, उसने मानो ब्रह्म की पूजा कर ली।

उपाध्यायं पितरं मातरं च येऽभिद्रुह्यन्ते मनसा कर्मणा वा। तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके॥ (महा0 शा0 108/30)

अर्थात् – अध्यापक, पिता और माता के प्रति जो मन-वाणी और क्रिया द्वारा द्रोह करते हैं,

उन्हें भ्रूणहत्या से भी महान् पाप लगता है। संसार में उससे बढ़कर दूसरा कोई पापाचारी नहीं है।

सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृता।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥

(महा0 शा0 108/12)

जिसने इन तीनों का आदर कर लिया, उसके द्वारा सम्पूर्ण लोकों का आदर हो गया और जिसने इन तीनों का अनादर कर दिया, उसके सम्पूर्ण शुभ-कर्म निष्फल हो जाते हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में माता-पिता-गुरु जनों के प्रति कर्त्तव्य पालन का विशिष्ट निर्देश पद-पद पर दिया गया है, क्योंकि इनकी सेवा और आशीर्वाद से ही मनुष्य की सफलता में सुख-शान्ति-समृद्धि का समावेश हो सकता है।

अब प्रश्न होता है कि - **'मनुष्य माता-पिता और गुरुजनों के ऋण से कैसे उऋण हो?'** इस समस्या का समाधान करते हुए महर्षि मनु कहते हैं - **"पितृन् श्राद्धैश्च अर्चयेत्"** अर्थात् माता-पिता-गुरुजनों आदि पितरों के ऋण से उऋण होने का एकमात्र साधन है -**'श्राद्ध'**। महर्षि मनु के इस सन्देशात्मक उपाय पर जैसे ही दृष्टि आपकी जायेगी, तो परम्परागत संस्कारों के आधार पर आपके मन में तुरन्त यह विचार आयेगा कि माता-पिता का श्राद्ध करना ही जब पितृऋण से उऋण होने का एकमात्र उपाय है, तो हम उनकी मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध आदि का कार्य विधिवत् कर लेंगे, जिससे हम पितृऋण से उऋण हो सकें।

मान्यवर ! आप जिस सत्य को स्वीकार कर रहे हैं, वही सत्य हमें भी स्वीकार है कि - मनुष्य माता-पिता का श्राद्ध करने से ही पितृऋण से उऋण हो सकता है। पर आपके चिन्तन और हमारे चिन्तन में थोड़ा-सा अन्तर है। आप श्राद्ध का जो भाव या पक्ष स्वीकार कर रहे हैं, वह परम्परागत संस्कार के आधार पर होगा, और हमारा चिन्तन स्व का चिन्तन न होकर तपस्वी ऋषि-मुनियों के चिन्तन के आधार पर होगा।

आप श्राद्ध का अर्थ यह करेंगे कि - 'माता-पिता की मृत्यु के बाद किसी ब्राह्मण को भोजन कराकर कुछ दान आदि का कार्य कर देना **श्राद्ध** है।' पर हम इस परम्परा को इस कारण से स्वीकार नहीं करेंगे कि श्राद्ध का जो अर्थ अब तक परम्परागत संस्कारों के आधार पर आप समझ पाये हैं, वह किसी भी प्रकार से समुचित नहीं है। कारण यह है कि **श्राद्ध** शब्द **श्रद्धा** से बनता है। अर्थात् जो कार्य श्रद्धापूर्वक किया जाय और उससे दूसरे मनुष्य की तृप्ति हो जाय, उस क्रिया का नाम **'श्राद्ध'** है। परन्तु यहाँ पर भूल आपकी यह है कि आपने श्रद्धा के मूल अर्थ को कभी समझने का प्रयास ही नहीं किया। जबकि **'श्रद्धा'** शब्द **'श्रत्'** और **'धा'** इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है - सत्य को धारण करना। आप इस विषय में धर्म संवर्द्धिनी सभा द्वारा प्रकाशित **"श्राद्ध क्या.. क्यों..कैसे ..?"** नामक पुस्तक से विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ मात्र प्रश्नात्मक निवेदन हम इतना ही करना चाहते हैं कि - जब सत्य को स्वीकार करना ही श्रद्धा है, तो माता-पिता-गुरुजनों की श्रद्धापूर्वक सेवा कर, उनके ऋण से उऋण होने का श्राद्ध वाला कार्य उनके जीवित रहने पर ही हो

सकता है या उनके मरने पर ? अधिकांश मनुष्यों ने श्राद्ध के नाम पर जो पाखण्ड किया है, उस पर कभी यह विचार नहीं किया गया कि – किसी को भोजन कराने या दान-पुण्य करने से तृप्ति खाने वाले मनुष्य की होगी या आपके माता-पिता की ? जब माता-पिता का शरीर उनकी मृत्यु के बाद आपने अग्नि को समर्पित करके भस्म कर दिया, तो सेवा व तृप्ति उनकी कैसे होगी ?

उसका एकमात्र उपाय है कि – जब तक आपके माता-पिता जीवित हैं, आप उनके प्रति कृतज्ञता का भाव हृदय में रखकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करके उनकी इस प्रकार से परितृप्ति कर दें कि सोते-जागते आपके प्रति सद्भावना रखते हुए आपको वे आशीर्वाद देते रहें, जिससे आपकी जीवन में सम्पूर्ण वृद्धि-समृद्धि निरन्तर होती रहे। ऐसा सन्देश मात्र हमारा ही नहीं, अपितु वेद भगवान् का भी है। कभी आप यजुर्वेद के 19वें अध्याय के मन्त्रों के भावार्थ का अनुशीलन करके देखें, तो आपको अनेकों मन्त्र ऐसे मिल जायेंगे जिसमें माता-पिता-गुरुजनों की सेवा द्वारा आपकी समृद्धि किस प्रकार से हो सकती है, आपका उनके प्रति क्या कर्त्तव्य है, यह सन्देश आपको अधिकांश मन्त्रों में प्राप्त हो जायेगा। हम यहाँ यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र को उपस्थित करते हुए आपको मात्र यह संकेत देना चाहते हैं कि पितरों का श्राद्ध और उनका तर्पण किस प्रकार से करना चाहिये। यजुर्वेद का मन्त्र निम्न प्रकार से है –

ऊर्ज॑ं वह॑न्तीर॒मृतं घृ॒तं पय॑ः की॒लाल॑ं परि॒स्रुतम्। स्व॒धा स्थ॑ त॒र्पय॑त मे पि॒तॄन् ॥

(यजु0 2/34)

भावार्थ- ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को पुत्र और नौकर आदि को आज्ञा देके कहना चाहिये कि तुमको हमारे पितर अर्थात् पिता-माता आदि वा विद्या के देने वाले (गुरु) प्रीति से सेवा करने योग्य हैं। जैसेकि उन्होंने बाल्यावस्था में वा विद्यादान के समय हम और तुम पाले हैं, वैसे हम लोगों को भी वे सब काल में सत्कार करने योग्य हैं; जिससे हम लोगों के बीच में विद्या का नाश और कृतघ्नता आदि दोष कभी न प्राप्त हों।

प्रस्तुत मन्त्र में तीनों गुरुओं का संकेत देते हुए जहाँ उनके प्रति कर्त्तव्य का सन्देश बाल्यावस्था में सन्तान के परिपालन और विद्या दान के रूप में दिया गया है, वहीं कृतघ्नता दोष से बचने का उपाय उस अगली पीढ़ी को भी दिया है, जो अपने माता-पिता गुरुजनों की सेवा के द्वारा कृतघ्नता जैसे महापाप से बच सकती है। तभी तो कहा है –

देववंशान् पितृवंशान् ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान्।
संत्यज्य मूढ़ा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम् ॥

(महा0 शा0 11/17)

अर्थात् – देवताओं का और पितरों का यजन करते हुए जो वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से अलंकृत विद्वान् ऋषि-मुनि जन हैं, उनके ज्ञान द्वारा ही मनुष्य जीवन में सुख-शान्ति व तृप्ति प्राप्त करता है। इस कारण से विद्वानों ने इन तीनों को **सनातन-मार्ग** कहा है। जो मूर्ख इन तीनों का परित्याग करके किसी अन्य मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे वेदविरुद्ध पथ का आश्रय लेकर निरन्तर दुःखों के सागर में डूबते जाते हैं।

अब आप शास्त्रों के कथन और वर्त्तमान परिदृश्य का आंकलन करके देखें तो इस निश्चय पर पहुंचेंगे कि वर्त्तमान परिदृश्य पूरी तरह शास्त्रों के विपरीत हो चुका है। जिन माता-पिता गुरुजनों की सेवा करना हमारा परम कर्त्तव्य माना जाता था, आज की पीढ़ी उनकी सेवा करने के लिए तैयार नहीं है। आज से 70-80 वर्ष पूर्व के इतिहास पर आप दृष्टि डालें तो आपको प्रतीत होगा कि भारत पराधीनता के उस युग में भी अपने संस्कारों और कर्त्तव्यों से कभी च्युत (पृथक्) नहीं रहा। आर्थिक विपन्नता होने के बाद भी माता-पिता-गुरुजन सन्तान के प्रति और सन्तान भी माता-पिता-गुरुजनों के प्रति सदैव सजग दिखाई देती थी। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद जिस प्रकार से नई पीढ़ी ने भारतीय संस्कारों की विरासत को तिलाञ्जलि देकर पाश्चात्य संस्कृति को अपनाते हुए उन्मुक्तता और भोगवाद के सागर में डुबकी लगाना प्रारम्भ किया है, उसके कर्त्तव्यों की सूची में माता-पिता गुरुजनों के प्रति सम्मान और सेवा कहीं है ही नहीं। वह समझती है कि वृद्धों को स्वयं अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेनी चाहिये या इन्हें स्वयं वृद्धाश्रम में चले जाना चाहिये।

पहले परिवारों की परिभाषा में परदादा-परदादी, दादा-दादी, माता-पिता और नई पीढ़ी का समुच्चय ही परिवार कहलाता था, पर आज पाश्चात्य संस्कृति ने जब दादा-दादी को ही उस सूची से निष्कासित कर दिया हो, तो परदादा-परदादी की बात सोचने की फिर आवश्यकता ही क्या ? इस सोच के परिणाम भविष्य में क्या होंगे, इसका पता तो तब लगेगा, जब वर्त्तमान की पीढ़ी स्वयं वृद्धावस्था की पंक्ति में खड़ी होगी। उस समय जब आप बच्चों और पोते-पोतियों से दूर रहकर, परायों के बीच में एकाकी जीवन व्यतीत करने पर मजबूर होंगे, उस परिस्थिति में जो परिदृश्य आपके समक्ष उपस्थित होगा, उस समय आपका मन भय और व्याकुलता से भर जायेगा। जब उस परिदृश्य की कल्पना ही आपके मन में भय के वातावरण को यदि उत्पन्न कर सकता है, तब क्या आपने यह विचार किया कि - जिस समय आप अपने माता-पिता की जिस प्रकार से उपेक्षा करके, अपने बच्चों के समक्ष जो वातावरण उपस्थित कर रहे थे, वही स्थिति जब आपके समक्ष खड़ी होगी, तब आप उसको बदलने की इच्छा रखते हुए भी सिर्फ मन मसोस कर रह जायेंगे। उस समय पश्चात्ताप के आंसू और मनोरोगी बनने के सिवाय आपके पास कुछ नहीं होगा। अभी वर्त्तमान की ही घटना है, जिसको मीडिया में स्पष्टरूप से दिखाया जा रहा है, और उस पर अनेकों लोग अपने-अपने विचार रखकर अपनी व्यथा को उद्घाटित कर रहे हैं।

घटना यह है कि एक प्रसिद्ध कपड़ों का व्यापारी **श्री शिवचरण रामरतन गुप्ता** का बहुत अच्छा व्यापार बम्बई महाराष्ट्र में चल रहा था। उन्होंने अपने व्यापार की एक इकाई नेपाल के काठमांडू में भी खोल रखी थी। उनके **नीता, निशा** और **प्रिया** नाम की तीन पुत्रियां थीं। पुत्र उनके कोई नहीं था। उन्होंने अपने व्यापार की कमाई से अपनी पुत्रियों को पुत्रवत् मानकर उन्हें अच्छा पढ़ाया-लिखाया और सम्पन्न परिवारों में

उनका विवाह भी करा दिया। व्यापार की सम्पन्नता में उनकी हर बेटी उनके साथ स्नेह का व्यवहार कर रही थी। पर दुर्योग से अचानक व्यापार में घाटा हुआ और गुप्ता जी की आर्थिक स्थिति पूरी तरह से बदतर हो गयी। अब इस स्थिति में कौन बेटी उन्हें अपने पास रखे ? यह बहुत बड़ा प्रश्न बेटियों के सामने था। इसी बीच गुप्ता जी की धर्मपत्नी श्रीमती मीना देवी उस विपन्नता की स्थिति में काल के गाल में समा गयीं। अब गुप्ता जी कहाँ जायें, किस बेटी के पास अपनी शेष ज़िन्दगी गुजारें, यह बहुत बड़ा प्रश्न था ?

आखिर में तीनों बेटियों ने आपस में विचार-विमर्श करके अपने पिता श्री शिवचरण रामरतन गुप्ता जी को सोनीपत (हरियाणा) के वेस्ट रामनगर में स्थित तथा **'समाज कल्याण समिति'** द्वारा संचालित एक **'ओल्ड-एज-होम'** में उन्हें यह कहकर भेज दिया कि एक पुत्री नेपाल में रहती है, दूसरी पुत्री उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ में है। तीसरी पुत्री जो बम्बई महाराष्ट्र में है उसकी स्थिति श्वसुराल की परिस्थिति के कारण आपको अपने पास रखने की नहीं है। अतः आप यहाँ सभी वृद्धों के साथ रह लेंगे और हम यदा-कदा आकर आपकी देखभाल करते रहेंगे। आश्रम के प्रबन्धक श्री आनन्द कुमार जी तथा उनकी सहयोगी श्रीमती सारिका जी ने पुत्रियों की मजबूरी मानकर उनके पिता को अपने वृद्धाश्रम में रहने के लिए स्थान दे दिया।

श्री गुप्ता जी वृद्धाश्रम में रहने वाले अन्य वृद्धों के साथ मिलकर जैसे-तैसे जीवन-यापन कर रहे थे, पर उनकी मानसिक स्थिति धीरे-धीरे खराब होती जा रही थी। जैसाकि आप सब जानते हैं कि जिस व्यक्ति ने सम्पन्नता का यौवनकाल देखा हो और जिसके परिवार में तीनों बेटियों की चहल-पहल उनकी आंखों के सामने हर क्षण विद्यमान रहती हो, जिसका जीवनसाथी उनके हर सुख-दुःख में सम्बल बनकर खड़ा रहता हो, उस व्यक्ति का जब बना-बनाया महल उनकी आंखों के सामने चकनाचूर हो जाय, तो उसकी मनोव्यथा कितनी अधिक बुरी होगी, उसका आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

वैसे श्री शिवचरण रामरतन लाल गुप्ता सात बहिन भाईयों में से चौथे स्थान पर थे, पर उनके व्यापार का बड़ा केन्द्र नेपाल में होने के कारण जब वहां भूकम्प की त्रासदी हुई तो गुप्ता जी का सम्पर्क अपने परिवार से टूट गया। परिवार के सदस्यों ने भी यह मान लिया कि हमारे भाई का परिवार भी उस त्रासदी में सदा-सदा के लिए समाप्त हो गया। गुप्ता जी की पुत्रियों ने भी कभी अपने परिवार के अन्य सदस्यों से मिलने का प्रयत्न भी नहीं किया। श्री शिवचरण रामरतन गुप्ता जी वृद्धाश्रम में जैसे-तैसे जीवन व्यतीत कर रहे थे कि इसी वर्ष (सन् 2026) जुलाई मास में उनके पेट में कुछ दर्द हो गया। संस्था के अधिकारियों ने उनका अस्पताल में इलाज करवाया और इसकी सूचना उनकी तीनों पुत्रियों को भी दे दी तथा उन्हें यह भी कहा कि आप कभी आकर अपने पिताजी से मिल लें। संस्था के अधिकारियों की सूचना मिलने के बाद कोई भी पुत्री उनसे मिलने नहीं आई। अन्ततोगत्वा श्री गुप्ता जी की तबियत अचानक

एक रात पुनः बिगड़ गई और दिनाङ्क 3 अगस्त 2026 को रात्रि लगभग तीन बजे उन्होंने इस संसार को सदा-सदा के लिए छोड़ दिया। संस्था के अधिकारियों ने तीनों पुत्रियों से सम्पर्क कर अन्त्येष्टि संस्कार में आने की सूचना दी, पर तीनों पुत्रियों ने अपनी-अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए यह कहा कि – 'आप ही संस्कार कर दीजिये, जब भी हमारा उधर आना होगा, हम आपसे सम्पर्क कर लेंगे।' संस्था के अधिकारियों ने अन्त्येष्टि कार्यक्रम सम्पन्न करा दिया। जिस समय संस्कार हो रहा था, उस समय स्व0 गुप्ता जी की एक पुत्री अपने मोबाइल द्वारा उस कार्यक्रम को देख रही थी और कह रही थी कि अब इस कार्यक्रम में कितना और समय लगेगा, मुझे स्नान भी करना है।

जब पुत्रियों की उपेक्षा का समाचार मीडिया द्वारा जनता तक पहुंचा और लोगों ने विविध प्रकार के कमेंट्स देने शुरू किये, तो यह सूचना स्व0 गुप्ता की की एक बहिन जो मथुरा में रहती थीं, उन्हें लगी। उन्होंने अपने बड़े भाई श्री महेन्द्र गुप्ता जी, जो अहमदाबाद में रहते थे, उनसे सम्पर्क किया और कहा – 'भाई ! आप वहाँ चले जायें, क्योंकि उनकी कोई बेटी अपने पिता की अन्त्येष्टि में नहीं पहुंची है।' 75 वर्षीय श्री महेन्द्र गुप्ता सूचना पाकर तथा संस्था के अधिकारियों से सम्पर्क कर अस्थि-विसर्जन करने के लिए हरिद्वार पहुंच गये और उन्होंने संस्था के अधिकारियों के साथ मिलकर वह कार्यक्रम सम्पन्न कराया। जब श्रद्धाञ्जलि सभा की सूचना स्व0 गुप्ता जी की तीनों पुत्रियों को संस्था के अधिकारियों द्वारा दी गई, तो उन्होंने उसमें भी आने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी।

अब आप कल्पना कीजिये कि हम किस प्रकार के वातावरण की ओर जा रहे हैं। यदि ऐसी ही स्थिति बनती रही तो एक दिन वह समय भी आ जायेगा कि हमारे परिवार का ताना-बाना सदा के लिए समाप्त हो जाये। तब कौन किस पर आश्रित होगा, और कैसे संसार का चक्र चल पायेगा। इसलिये आज सजग होकर वेद के इस सन्देश को सुनें और अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग हों, जिससे हम अपने पितरों की सेवा व सम्मान करते हुए अपने सुखद भविष्य का निर्माणकर, कृतघ्नता के दोष से बच सकें। याद रखो, हमारे द्वारा किया हुआ अच्छा या बुरा कर्म हमारा तब तक पीछा नहीं छोड़ता, जब तक हम उस कर्म के फल का भुगतान नहीं कर देते। इसलिए आओ, अपने जीवन में पितृऋण से उऋण होने का प्रयत्न कर, अपने पितरों से आशीर्वाद और उनके ज्ञान का अनुभव प्राप्तकर, जीवन को सन्मार्ग पर चलाकर सुखमय बनाओ, यही वेद का सन्देश है।

(3) ऋषि ऋण –

जिन शक्तियों के मनन-चिन्तन एवं ज्ञान के द्वारा हमारी मानसिक-बौद्धिक और आत्मिक चेतना जागृत होती है, हमें उनके ऋण से भी उऋण होने का प्रयत्न करना चाहिये, ऐसा वेद का सन्देश है।

अब प्रश्न होता है कि – **ऋषि कौन हैं?** इसका उत्तर जानने के लिए प्रथम **ऋषि** शब्द को समझें, उनके उपकारों पर विचार करें और उनके ऋण को हम किस प्रकार से चुका सकते हैं, उस ऋण से उऋण होने पर विचार करें।

'ऋषि' शब्द **'ऋष् गतौ'** या **'ऋ गतिप्रापणयोः'** धातु के साथ **'इन्, कित्'** प्रत्यय का सम्प्रयोग करने से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है – ज्ञान के प्रकाश की किरणों को प्राप्त करने वाला मन्त्रदृष्टा। तभी तो महर्षि यास्क ने ऋषि शब्द की परिभाषा देते हुए लिखा है– **'ऋषयो मन्त्रदृष्टारः'** वा **'साक्षात्कृत धर्माणः ऋषयो बभूव'** अर्थात् – जिन्होंने वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया है अथवा जिन्होंने उस वेदज्ञान के अर्थ समझने के लिये समाधि अवस्था में बैठकर परमपिता परमात्मा रूपी गुरु से साक्षात् ज्ञान प्राप्त किया है, वे **ऋषि** हैं। 'अमरकोषकार' ने **'ऋषयः सत्यवचसः'** कहकर सत्यज्ञान के प्रकट करनेवाले को **ऋषि** कहा है।

हम सब जानते हैं कि मनुष्य-जीवन में जितनी आवश्यकता शरीर के सम्यक् पोषण के निमित्त भोज्यादि पदार्थों की है, और जितनी आवश्यकता प्राकृतिक देवों के कृपा की है, उतनी ही कृपा यदि ऋषियों ने मनुष्यजाति पर न की होती, तो मनुष्य का विकास पूरी तरह से असम्भव था। जीवन में बाह्य पदार्थों का विकास में जितना योगदान है, उस योगदान में यदि ऋषियों के योगदान को न स्वीकार किया जाय, तो यह बहुत बड़ी कृतघ्नता होगी।

यहाँ आपके मन में यह प्रश्न अवश्य ही उपस्थित हो रहा होगा कि हमने तो कभी किसी ऋषि को देखा नहीं, कभी उनका साक्षात् करने का सौभाग्य नहीं मिला, तो हम कैसे यह मान लें कि ऋषियों का ऋण हमारे ऊपर है ?

प्रिय मित्र ! इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए आप एकान्त में बैठकर कभी अपने मानसरोवर में झांकने का प्रयत्न करते हुए स्वयं से यह प्रश्न करें कि – यदि समस्त जीने के संसाधन हमारे पास विद्यमान हों, पर उसके लिए ज्ञान और विचारशक्ति के सामंजस्य का मेरे पास अभाव हो, तो क्या जीने के साधनों का आप सम्यक् उपयोग कर सकेंगे ? यदि नहीं.. तो इस ज्ञान की भागीरथी को प्रवाहित करने वाले लोगों का नाम ही ऋषि है। ज्ञान-विचार-विवेक के अभाव में मनुष्य संसाधनों का सम्यक् उपयोग न कर, उनसे अपने विनाश का उद्योग अवश्य कर लेगा, जो स्वयं के लिए ही नहीं, सम्पूर्ण मानव जीवन के लिए घातक होगा।

यदि आप महर्षि वेदव्यास जी द्वारा प्रणीत श्रीमद्भगवत्गीता के सदुपदेश से जीवन में ऊर्जा, विकास और सम्यक् दिशा को प्राप्त करते हैं, तो क्या यह आप पर उस ऋषि का ऋण नहीं है ? भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस उपदेश को रणक्षेत्र में अर्जुन को दिया था, क्या वह सात सौ श्लोकों की गीता का उपदेश सुनाना व सुनना उस रणक्षेत्र में सम्भव था; जिसमें कर्मयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, संन्यासयोग आदि-आदि वर्णित हैं? गीता के 18 अध्यायों में 18 ही योग हैं। क्या सम्भव है कि इतना विस्तृत ज्ञान श्रीकृष्ण द्वारा वहाँ दिया गया होगा ? यदि नहीं, तो आप इतना अवश्य स्वीकार कर लीजिये कि जिस भगवान् श्रीकृष्ण ने वह ज्ञान रणक्षेत्र में दिया, वह केवल अर्जुन को ही नहीं, वरन् वह ज्ञान संसार में प्रत्येक कर्म का अर्जन करने वाले मनुष्य के लिए

ही है। जिस उपदेश को सुनकर अर्जुन स्वधर्म का पालन करने के लिए तैयार हुआ और स्वयं कह बैठा – **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा त्वत् प्रसादान् मयाच्युत'** ऐसा उपदेश करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण का उपकार मात्र अर्जुन पर ही नहीं, वरन् समस्त मनुष्य जाति पर है।

दूसरा उपकार उस परमज्ञानी महर्षि वेदव्यास जी का है, जिसने भगवान् श्रीकृष्ण के उस उपदेश को अपनी लेखनी से लिखकर अपनी प्रतिभा की तूलिका से इस प्रकार सुसज्जित किया कि साढे पांच हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद भी वह गीता करोड़ों लोगों की ऊर्जा का विशिष्ट स्रोत है। केवल भारतीय ही नहीं, अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी गीता के द्वारा उच्च दशा और दिशा को प्राप्त कर, स्व-कर्त्तव्य का बोध प्राप्त किया है। ऐसी दृष्टि में क्या भगवान् श्रीकृष्ण और महर्षि वेदव्यास का इस मानवजाति पर उपकार नहीं है ? यह तो हमने एक उदाहरण मात्र संकेत दिया है। कल्पना कीजिये कि आदि-सृष्टि में अग्नि-वायु-आदित्य-अङ्गिरा से प्रारम्भ हुई ज्ञान-भागीरथी का वह प्रवाह, जिसे ब्रह्मा जी ने अपने शिष्यों को प्रदान किया, कालान्तर में महर्षि बाल्मीकि, जैमिनी, कपिल, कणाद या अन्यान्य अनेक ऋषियों ने अपने-अपने कालखण्ड में समय-समय पर पोषित और पल्लवित न किया होता, तो जिस ज्ञान के बिन्दुओं को प्राप्तकर हम विकास की ऊँचाईयों को छूने का निरन्तर प्रयास कर रहे हैं, वह बिना ज्ञान-बिन्दुओं के अभाव में सम्भव ही नहीं था। तभी तो समस्त शास्त्र एवं शास्त्रवेत्ता विद्वान् जन वेदवाणी की उद्घोषणा द्वारा यह सन्देश देने का प्रयत्न कर रहे हैं कि – हे मनुष्यो ! जिन ऋषियों ने अपने ज्ञान के द्वारा मानव जाति का सम्यक् संवर्द्धन किया है, यदि तुम उनके ऋण से उऋण होने के लिए कोई प्रयत्न न करोगे, तो तुम कृतघ्नता के दोष से युक्त होकर अपने जीवन को ऋण के भार से अवश्य बोझिल कर लोगे।

अब प्रश्न होता है कि – यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाय कि ज्ञान परम्परा का प्रवहण करने वाले ऋषियों का ऋण हम सब मनुष्यों पर है, तो हम उस ऋण से कैसे उऋण होवें ? उसका समाधान देते हुए शास्त्रकार कहते हैं – **'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः'** अर्थात् ब्रह्मचर्य की साधना द्वारा। आपका मन इस उत्तर को शायद स्वीकार न करे, क्योंकि आपने ब्रह्मचर्य शब्द को मात्र इन्द्रिय-संयम के रूप में ही स्वीकार किया है। पर आप यदि इस शब्द की व्याकता में प्रवेश करने का प्रयत्न करें तो **ब्रह्मचर्य** शब्द **'ब्रह्म'** और **'चर्य'** दो शब्दों के मेल से बना है। **'चर्य'** का अर्थ है – **विचरण करना** और **'ब्रह्म'** शब्द का अर्थ है – **परमात्मा, वेद** और **वीर्य संरक्षण** अर्थात् इन्द्रिय संयम। आपने परम्परागत रूप से ब्रह्मचर्य का अर्थ संयम रूप में स्वीकार कर लिया, पर आपने जिन दो अर्थों को छोड़ दिया, यदि उसका सम्प्रयोग ठीक प्रकार से नहीं किया गया, तो आप अभी ब्रह्मचर्य की पूर्णता से अनभिज्ञ हैं। यह उचित है कि इन्द्रिय संयम की साधना कोई सामान्य कार्य नहीं है। बड़ी कठिन तपस्या है। पर उस तपस्या में यदि वेदज्ञान को न

संयुक्त किया जाय, तो मनुष्य जीवन प्राप्त करने का जो उद्देश्य है, उसे आप प्राप्त नहीं कर पायेंगे। इसलिये आवश्यक है कि आप अपने उस संयम साधना में वेदज्ञान का सामंजस्य कर लें; क्योंकि वेद ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान है। तभी तो महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है -

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।'

इसका अभिप्राय यह हुआ कि संयम की साधना में परमधर्म वेद का स्वाध्याय और प्रवचन का भी सामंजस्य होना चाहिये। क्योंकि वेद परमब्रह्म परमात्मा से प्राप्त सत्यविद्या है। मान लीजिये कि आपने यह प्रयत्न भी कर लिया कि अपनी संयम साधना में वेदज्ञान का भी सामंजस्य कर लिया, तब प्रश्न होगा कि - 'इससे आपको क्या लाभ मिला ?' उत्तर - केवल ज्ञान ? नहीं.. नहीं..। यह उचित है कि आपकी साधना में ज्ञान का सामंजस्य हो गया। पर यह ज्ञान सांसारिक नहीं है। इसमें मात्र विधेय और निषेध की चर्चा ही नहीं है, वरन् यह ज्ञान आपकी इहलौकिक कामनाओं के साथ-साथ आपकी अनन्त यात्रा में अन्तर्निहित कामना पारलौकिक सुख को पाने की, इसके द्वारा ही पूर्ण होगी। क्योंकि जब आप वेदज्ञान का आलोड़न करेंगे तो धीरे-धीरे आप उसके सार तत्त्व तक गति करने का उद्योग करते हुए आपको यह प्रतीत होने लगेगा कि वेदज्ञान केवल संविधान का ग्रन्थ ही नहीं, अपितु यह ज्ञान आपको परमब्रह्म परमात्मा तक पहुँचाने के पथ को प्रशस्त करने वाला ज्ञान है। तभी तो महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने **'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका'** नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है -

"सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य"

अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति कराना ही वेदज्ञान का परम उद्देश्य है।

अब आप कल्पना करके देखें कि आपकी साधना में जब वेदज्ञान का समावेश हो गया और उस समावेश का प्रयत्न आपको ब्रह्म की प्राप्ति करा रहा है, तो इससे बड़ा और लाभ जीवन का क्या होगा ? खाना-पीना-सोना-डरना और सन्तान पैदा करना - ये कार्य अन्य जीवनों में भी हो सकते हैं, मनुष्य जीवन प्राप्त करके यदि इतना ही प्राप्त किया तो फिर मनुष्य बनने का क्या लाभ ? लाभ तो तब है कि इस जीवन के द्वारा धर्म-अर्थ-काम और मोक्षानन्द रूपी परम लक्ष्य को प्राप्त किया जाय।

इतना व्यापक चिन्तन उन ऋषियों ने मानव मात्र के उत्थान के लिए दिया है। तब हमारा कर्त्तव्य बनता है कि हम भी उस ज्ञान-परम्परा का संवर्द्धन करें। साधना, वेदज्ञान और ब्रह्म प्राप्ति द्वारा जिस आनन्द का आस्वादन हम प्राप्त करें, उस आस्वादन के लिए **'जनया दैव्यं जनम्'** दूसरों को भी प्रेरित करें। यदि हमने ऐसा प्रयास किया तो अवश्य ही हम ऋषिऋण से उऋण हो सकेंगे।

वेद ने जिन ऋणों से उऋण होने का सन्देश दिया है, हमारा प्रयत्न रहना चाहिये कि हम सभी ऋणों से उऋण होकर ही इस संसार से प्रयाण करें, तभी मनुष्य-जीवन का साफल्य है। ❐

भाषा - मानवीय विचार-विनिमय का माध्यम

डा0 पीयूष मिश्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ0 प्र0)

भाषा मानवीय विचार-विनिमय का माध्यम है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अन्तर्निहित ज्ञान, भाषा में ही अन्तर्भूत है। वैदिक वाङ्मय प्रभृत न्याय, मीमांसा, बौद्ध व्याकरण, काव्यशास्त्रादि पर्यन्त साहित्य में शब्द-अर्थ एवं दोनों के सम्बन्धों की विशद मीमांसा हुई है। दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में मनुष्यजाति को भाषा परमात्मतत्त्व से प्राप्त हुई। **'भाष्'** धातु से निष्पन्न भाषा शब्द का अर्थ है - **बोलना, कहना** तथा **वार्ता**। भाषा ही वाग्-व्यवहार के द्वारा पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनकर मनुष्य को प्रभुत्ववान् बनाती है। वाक्तत्त्वरूपी भाषा मानव-जीवन की प्रखर ज्योति है, जो अप्रकाशित ज्ञान को प्रकाशित कर मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देती है।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्राह्मणमृषितं सुमेधाम्॥

भारतीय चिन्तन परम्परा में भाषा को वाक् के पर्याय के रूप में जाना जाता है, इसलिए वैदिककाल में वाक् तत्त्व को दैवीशक्ति के रूप में स्वीकृत कर, उसकी वैदिक मन्त्रों द्वारा स्तुति की गई।

"इष्यन्वाचमुपवक्तेव होतुः"(ऋ0 9/95/5) **"वागेवार्थं पश्यति, वागेव विश्वभुवनानि जज्ञे, वाच इत सर्वं अमृतं यच्च मर्त्यं"** इत्यादि ऋग्वैदिक मन्त्रों में वाक् देवी की कल्पना की गई है, जिसमें यह सारा ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान रूपी सृष्टि का व्यापार समाविष्ट है। ऋग्वेद का यह मन्त्र बताता है कि वाक् तत्त्व के चार विभाग माने गये हैं -

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (ऋ0 1/164/45)

भाषा के अन्तर्गत **परा-पश्यन्ती-मध्यमा** तथा **बैखरी** वाक् के चार रूप प्रकट होते हैं। भाषा के मूल में है - शब्द; जिसके साथ अर्थ अन्विति सर्वसिद्ध है। शब्द से ही जगत्-व्यापार संचालित रहता है। आध्यात्मिक दृष्टि से शब्दतत्त्व से अर्थजगत् व्याकृत होता है। अर्थ शब्द का ही विकार जो जागृतिक पदार्थ के रूप में विवक्षित है ।

"एकमेव यदाम्नातं भिन्नशक्ति व्यपाश्रयात्। अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनैव वर्तते॥"

शब्द का उपादान परावाक् तत्त्व केवल एक देश में ही नहीं, अपितु व्यापकरूप में सर्वत्र है। **"व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य"** वैयाकरणों

की दृष्टि में शब्द में अर्थ के सम्बन्ध को अनेक प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध किया गया है। आचार्य पतञ्जलि के नवीन मौलिक विचार में मीमांसकों के पदों और वाक्यों की नित्यता सिद्ध होती है, जबकि मीमांसाकों की मूल धारणा है कि – **क, ख, ग** आदि पृथक्–पृथक् वर्णों की नित्यता तो है; लेकिन वर्णों के समूहरूप पदों और पद–समूहरूप वाक्यों की अनित्यता प्रसिद्ध है। शब्दों से नियत अर्थ का बोध होता है। समाज में शाब्दिक व्यवहार के माध्यम से मनुष्य को वाक्यात्मक भाषा का अर्थज्ञान होता है।

वैयाकरणों ने ही शब्दतत्त्व का दूसरा नाम **'स्फोटतत्त्व'** रखा है। **'स्फुट्यते प्रकाश्यते अर्थः अनेन इति स्फोटः'** अर्थात् जिससे पारमार्थिक अर्थ स्फुटित (प्रकाशित) हो, वही स्फोट है।

स्फोटात्मक अर्थ का अभिप्राय है – **'अर्थ्यते प्रार्थ्यते सर्वैरिति अर्थः'** अर्थात् जो सबको अभीष्ट हो, वही वास्तविक अर्थ है।

स्फोटार्थ प्रणव का ही रूप है, जिसका आविर्भाव ब्रह्म से होता है। जिस ब्रह्म से ईश्वर को द्वार मानकर आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि सकल रूपमय सृष्टि के उपादानभूत पञ्चभूतों का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार उस ब्रह्म से प्रणव को द्वार मानकर अकार से मकार पर्यन्त 50 वर्णों का प्रादुर्भाव हुआ है। 50 वर्ण में **16 स्वर, 25 स्पर्श, 4 अन्तस्थ, 4 ऊष्म** और **1 क्षकार** का परिगणन किया जाता है –

"स्वराः षोडश विज्ञेयाः स्पर्शास्तु पञ्चविंशति। अन्तःस्थाश्चापिचत्वारः ऊष्माणाश्चापि तन्मिताः। जिह्वामूलीय-कश्चैक इत्येवं वर्णसंहतिः। एवं वर्णा द्विपञ्चाशन्मातृकायामुदाहृताः। क्षकारन् त्वागमाचार्याः बीजार्थमधिकं विदुः। तच्चोपलक्षणं ज्ञेयं ज्ञानामपि ध्रुवम्"।

मनुष्य शरीर में छः चक्रों की कल्पना की गई है – मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

मूलाधारः स्वाधिष्ठानं मणिपूरकमेव च।
अनाहतं विशुद्धाख्यमाज्ञा षट्चक्रमुच्यते॥

मूलाधार में रहने वाली जो **परा** नाम की वाक्शक्ति है, वही प्राणवायु की सहायता से ऊपर उठती हुई **63 वर्णों** में विवृत्त होती है –

"स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। पादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्चयमाः स्मृताः। अनुस्वारो विसर्गश्च क पौ चापि पराश्रयौ। दुष्पृष्ठश्चापि विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च"।

उनमें प्रथम नाभिदेश से उत्पन्न होने वाली वाक् **पश्यन्ती** और हृदयदेश में अभिव्यक्त होने पर **मध्यमा** रूप से वर्णित होती है। कण्ठदेश के द्वारा मुख से बाहर प्रस्फुटित होकर श्रवण का विषय होने पर उसे **'वैखरी वाक्'** के रूप में जाना जाता है।

मूलाधारे लिङ्गमूले नाभौ च हृदि कण्ठके।
भ्रुवोर्मध्ये ब्रह्मरन्ध्रेचक्राणि चिन्तयेत्क्रमात्॥

वैखरीवाक् ही तुरीयवाक् है। श्रुतिगोचर होने के कारण मनुष्य इसे ही बोलते हैं। **"तुरीयं वाचो मनुष्यः वदन्ति"**। इन्द्रिय तथा देह के द्वारा व्यक्त होने पर बिखरे रूप में **'वैखरी'** प्रसिद्ध हुई।

आचार्य भर्तृहरि वस्तुतः वाक् के दो रूप ही स्वीकारते हैं - **परमात्मा** तथा **ज्ञानात्मा**। पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी ज्ञानात्मा-वाक् है; जबकि परावाक् उससे भिन्न होती हुई सबकी बीज रूप है। आचार्य **'त्रय्या वाचः परं पदम्'** से इसी बात का संकेत करते हैं -

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥

वाणी के अभिव्यक्त होने के चार स्थान माने गये हैं - **आधार, नाभि, हृदय** और **कण्ठ**। इन चारों स्थानों में क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी की अभिव्यक्ति होती है। प्रथम तीन - **आधार, नाभिक** और **हृदय** में अन्तर्निहित वाणी बाह्यरूप श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं बनती, यह सूक्ष्मतर से सूक्ष्म है। **परा, पश्यन्ती** वाक् का प्रत्यक्ष अनुभव योगियों को **निर्विकल्पक** तथा **सविकल्पक समाधि** में होता है। जागतिक अर्थ व्यापार की बोधिका तो **वैखरी वाक्** की है, जो तत्त्व सर्वप्रथम प्रकट होता है, उसे ही सबसे सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापक माना जाता है। इन चारों वाणियों में परा नामक वाक् को **'स्वरूप ज्योतिरेवान्तः, परा वागनपायिनी'** इत्यादि कहकर ब्रह्मस्वरूप वाला बताया गया है। यही नामरूपात्मक समस्त ब्रह्माण्डीय चराचर का मूल उपादान है। परा से पश्यन्ती और पश्यन्ती से मध्यमा में क्रमशः वाणी की अभिव्यञ्जना होती है। पश्यन्ती में शब्द तथा अर्थ परस्पर इतने संयुक्त होते हैं कि कुछ भी पार्थक्य सम्भव नहीं है। मध्यमा में शब्द-अर्थ का तादात्म्य होने पर भी पृथक् विभाग का अनुभव होता है। मन में संकल्पित विचार प्रवाह निश्चित रूप से मध्यमा में ही उद्भूत होते हैं। यही कारण है कि मूक-बधिरादि शारीरिक दोषों से संपीड़ित मनुष्यों को भी स्थूल वैखरी वाणी के बिना मध्यमा शक्ति के द्वारा अर्थावबोधन हो जाता है। वैखरी ध्वनि हृदयस्थ मध्यमा स्फोट का मात्र अभिव्यञ्जक बनकर श्रवण व्यापार का माध्यम बनती है। अर्थावबोधकता उसका लक्ष्य नहीं है। श्रवणेन्द्रिय का विषय बनने से पूर्व मध्यमा वाक् में व्यक्ति को अर्थज्ञान हो जाता है। मध्यमा में स्थित स्फोटात्मक शब्दों की अभिव्यक्ति से अनेक विश्वविश्रुत विद्वान् बिना वैखरी वाक् के ही विभिन्न शास्त्र विषयक साहित्यादि की रचना कर देते हैं। भर्तृहरि का कथन है कि मध्यमा में ही शब्दों के अर्थ का भान हो जाता है, इसलिये अर्थावबोधन की स्वाभाविक प्रक्रिया का पूर्ण उन्नायक मध्यमा वाक् है -

वैखर्या हि कृतोनादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमा कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते॥

ये चतुर्थी वाक् किस शक्ति का आलम्बन लेकर कार्य-व्यापार में प्रवृत्त होते हैं। आचार्य ने शब्द को ब्रह्म तथा कालशक्ति को स्वतन्त्र कर्तृशक्ति स्वीकार किया है। यह अविद्यारूपी स्वतन्त्र कालशक्ति, शब्दतत्त्व के आश्रयभूत होकर ही शब्दब्रह्म की आरोपित कलाओं (षड्भावविकार) जन्म, स्थिति, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश का कारण बनती हैं -

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयोविकारः षड्भावभेदस्य योनयः॥

इस शक्ति से ही मूर्ति और क्रियात्मक भेदजन्य पदार्थ सर्वत्र व्याप्त होकर कालशक्ति की वृत्ति अर्थात् सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि आदि का अनुगमन करते हैं। जिस प्रकार लोक में स्त्री-पुरुष में पार्थक्य होने पर भी पुत्रोत्पादन आदि कार्यों में उनके सहकर्तत्व की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म और कालशक्ति में दृश्यमान भेद रहने के बाद भी नामात्मक व रूपात्मक भेद से भिन्न दो प्रकार की सृष्टियों के उपादानत्व की कल्पना मान्य होती है। शक्ति से रहित ब्रह्म भी कुछ करने में समर्थ नहीं होता और शक्ति भी बिना आश्रय के ठहर नहीं सकती। शब्दब्रह्म की मूलशक्ति काल ही है –

ब्रह्मोदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्ति निबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

प्रकारान्तर से शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अव्यक्तरूपा प्रकृतिवाली कालशक्ति पदोन्मुखी तथा शब्दब्रह्मोन्मुखी होकर नामात्मक और रूपात्मक जगत् की सृष्टि करती है।

"प्रधानं पुरुषश्चैव प्रविश्य तु महेश्वरः क्षोभमास योगेन परेण परमेश्वर।
प्रधानात्क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात्,
प्रादुरासीन्महद्बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्॥"

इस वाङ्मय सृष्टि का अनुभव वही कर सकता है, जिसकी मति व्याकरण शास्त्र के अध्ययनोपरान्त शब्द एवं अर्थ के भ्रम से निर्मूल हो गयी हो। ऐसा विमल मतिदृष्टा, अक्षर-समूहों से छन्दित, मर्यादित पुरुष वेदों के कारणरूप छन्दोमय शुद्ध प्रणवात्मक शब्दब्रह्म का दर्शन करता है।

अत्रातीत विपर्यासः केवलामनुपश्यति।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम्॥

गीता (11/8) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम मेरे स्वरूप का दर्शन प्राकृत नेत्रों से नहीं, दिव्य प्रज्ञाचक्षु द्वारा ही कर सकते हो –

न तु मां शक्यसे दृष्टमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

इस शब्दब्रह्म का एक अखण्ड चैतन्य, मनुष्य-पशु-पक्षी इत्यादि बहुधा स्वरूपों में वैसे ही है। ❐

नवजीवन नवप्राण चाहिये

उदयशङ्कर भट्ट

रक्त-लिप्त विष-दग्ध धरा को, नवजीवन नवप्राण चाहिये।
कुण्ठित गति, लुण्ठित संस्कृति को, अपना पथ निर्माण चाहिये॥

युद्ध-युद्ध की हृदय विदारक, ध्वनि से आकुल विश्व प्राण हैं।
दुर्बल काँप रहे हैं भय से, बली सध रहे संविधान हैं।
डगमग-डगमग भू-धर डोले, अम्बर प्रलय मेघ छाये हैं।
नियति प्रकम्पित, दिगदिगन्त धड़, महानाश दल-बल आये हैं।
साढे तीन हाथ के नर में, भरा उदधि निस्सीम पिपासा।
हिम-शृङ्गों-सी उच्च उमंगें, पौर-पौर छाई अभिलाषा।
खूनी खप्पर, सत्य स्वर्ग सुख, बोलो ! कैसा ज्ञान चाहिये॥1॥

सुप्त राक्षसी हिंसा जागी, महाकाल जागे जल-थल में।
नाश-नाश औ महानाश के, सुन पड़ते गर्जन पल-पल में।
स्वयं गरल पी अमृत बाँटने, वाला हमने आज खो दिया।
सत्य-धर्म का, दया-कर्म का, प्रेममूर्ति सिर ताज़ खो दिया।
जिसकी कम्पित, पर निर्भय पग, ध्वनि सुन मरण अचेता हो गया।
जिस दधीचि की वज्र अस्थि से, सोता विश्व सचेत हो गया।
उसके अनुगामी नर को है, बस उसकी मुसकान चाहिये॥2॥

जीवन थिर न रहा पल-पल में, प्राण-प्राण में, रोम-रोम में।
जीवन बिखर रहा पृथ्वी पर, जल में, थल में, व्योम-व्योम में।
इसे प्राण दो, इसे प्राण दो, रक्त पिपासा युद्ध विकृति है।
इसे मान दो, शुद्ध ज्ञान दो, जीवन ही निःशेष प्रकृति है।
जीने को वह लोक ही जग है, मरने को परलोक बना है।
तिमिर-हरण के लिए धरा पर, रवि-शशि का आलोक बना है।
कलुषित है इतिहास तुम्हारा, कितना और प्रमाण चाहिये॥3॥

मोटापा : कारण एवं निवारण

सुप्रिया शर्मा
नारायण विहार, नई दिल्ली

बचपन में जैसे ही बुद्धिजन्य चेतना का प्रादुर्भाव होता है, बालक प्रत्येक स्थान पर सुख तलाशना प्रारम्भ कर देता है। खाना-पीना, सोना-जागना, घूमना-फिरना, आराम करना - ये सब कार्य सुख के लिए करता है। माता-पिता के आश्रय में उसके ऊपर किसी प्रकार का बोझ नहीं होता, पर जैसे-जैसे शैशव व बाल्यावस्था व्यतीत होने के बाद यौवन की दहलीज पर कदम रखता है, तब उसमें अनेकानेक कामनायें प्रबल होने लगती हैं और कुछ जिम्मेदारियों के प्रति गम्भीरता भी। उन जिम्मेदारियों में अपना सफल कैरियर बनाना और सुन्दरतम जीवन साथी प्राप्त करने की इच्छा प्रमुख बलवती होने लगती है। इन सब कार्यों में वह अपने-आप को इतना खपा देता है कि इस उम्र में उसे जिस शरीर की स्वस्थता पर ध्यान देना चाहिये, उस पर नहीं देता। वह कभी यह विचार नहीं करता कि सफल कैरियर बनाने, अधिक धन कमाने तथा अच्छे जीवनसाथी की परितृप्ति में शरीर की स्वस्थता का भी पूरा-पूरा योगदान होता है। **'पहला सुख निरोगी काया'** यह कहावत यूँ ही लोक में प्रसिद्ध नहीं हो गई। इसमें कितने पूर्वजों के अनुभव मिश्रित हो गये, इसका कभी अनुमान ही नहीं किया। पर यह वाक्य तब भी सत्य था, आज भी है और भविष्य में भी सत्य ही रहेगा।

शारीरिक सशक्तता को दो-चार बिन्दु में नहीं समझा जा सकता। जब परमात्मा ने इस शरीर की रचना पूर्ण मनोयोग से की है, तो इसके सभी पक्षों को जानना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। मैं यहाँ सम्पूर्ण शरीर की बात न कहकर मात्र मोटापा जिस प्रकार से आज भयानक समस्या बनता जा रहा है, उस ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहती हूँ। भरे-पूरे मांसल शरीर को जो पूर्ण ऊर्जावान् हो, उसे स्वस्थ कहा जा सकता है, पर जिस शरीर में शक्ति का अभाव, तन्द्रा, आलस्य, मन्द उत्साह, शरीर पर मांस का विशेष भार - ये ऐसे बिन्दु हैं, जो मोटापे जैसी बीमारी को इंगित करते हैं। रात्रि को देर तक जागना, निशाचरों की तरह भोजन करना, सुबह के प्रहर में सोना - ये सब कार्य प्रकृति विरुद्ध हैं। पहले पढ़ाया जाता था -

फूलों से तुम हंसना सीखो, भौंरों से तुम गाना।
सूरज की किरणों से सीखो, जगना और जगाना॥

यह सन्देश नई पीढ़ी न सुनना चाहती है और न उन्हें पढ़ाया गया है। परिवारों में बच्चों की संख्या कम होने के कारण माता-पिता से इकलौते बच्चे के लिए जिस प्रकार की सुख-सुविधाओं के अम्बार लगा दिये हैं, उससे बच्चा कर्त्तव्य परायण न होकर आलसी बन गया है। उसकी यही बदलती जीवनशैली मौटापे

जैसी बीमारी का कारण है। व्यायाम, प्राणायाम उनकी जीवनशैली में कहीं दिखाई नहीं देती। भोजन जो परिवार में माता द्वारा बनाया जाता है, उसे ग्रहण न कर पीज़ा-बर्गर, चाय-कॉफी, पकौड़े-समोसे आदि फास्टफूड-जंकफूड का जीवन में इतना प्रवेश हो गया है, कि आज की पीढ़ी इसके बिना नहीं रह सकती। धन कमाने में निरन्तर आगे से आगे निकलने की भागदौड़ में स्वास्थ्य पर कोई ध्यान देने को तैयार नहीं है। पुरानी और नई पीढ़ी में अन्तर यह है कि पुरानी पीढ़ी परिश्रम अधिक करती थी और उस परिश्रम के बाद जितना मिल जाय, उससे सन्तुष्ट रहती थी। आज की पीढ़ी परिश्रम करना नहीं चाहती। असन्तोष इतना अधिक व्याप गया है कि प्रत्येक बच्चा अम्बानी बनना चाहता है। अधिक धन कमाने की चाहत में बड़े-बड़े सपने देखकर आकाश में छलांग लगाने वाले तनाव से इतने अधिक ग्रस्त हो जाते हैं कि मोटापा, हार्टअटैक, ब्लडप्रैशर जैसी बीमारियों को आमन्त्रित कर रहे हैं। इससे नई पीढ़ी बाह्य दृष्टि से ही नहीं, अपितु आन्तरिक दृष्टि से भी खोखली और रोगग्रस्त होती जा रही है।

समाधान -

इन सब समस्याओं का समाधान यही है कि पहले अपने जीवन जीने की शैली को बदलें। रात्रि को जल्दी सोना और प्रातः जल्दी जागने का अभ्यास करें। प्रातः उठकर कुल्ला आदि करके गरम पानी पीवें और फिर भ्रमण को निकल जायें। व्यायाम योगासन-प्राणायाम के लिए समय अवश्य निकालें। ऐलोवेरा का जैल, आंवले का जूस, नारियल पानी, नीबू पानी का यथाशक्ति सेवन करें। फास्टफूड-जंकफूड को सदा-सदा के लिए वाय-वाय कहें। टॉफी, चाकलेट, कोल्डड्रिंक, चाय-कॉफी का सेवन न करें। दूध में दो चम्मच देशी घी या अरण्ड के तेल का सप्ताह में सेवन अवश्य करें, इससे कब्ज़ की समस्या समाप्त होगी। यदि किसी व्यक्ति को कब्ज़ अधिक रहती हो, तो उसे त्रिफला का चूर्ण प्रतिदिन सोते समय दूध या गुनगुने पानी से सेवन अवश्य करना चाहिये। भोजन में गेहूँ के आटे में जौ और चने के आटे का भी सेवन करें। इससे आपके शरीर में फाइवर की मात्रा अधिक होगी। सलाद, फलों के जूस का भी सेवन लाभदायक है। बन्द डिब्बों का रस न पीयें, क्योंकि उनमें प्रिजर्वेटिव पदार्थ होते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए अच्छे नहीं हैं। तले और गरिष्ठ पदार्थों के सेवन से बचें।

जिन पदार्थों से शरीर में कफ की वृद्धि होती है, मोटापे की समस्या वाले लोग उन पदार्थों का सेवन कम से कम करें। व्यायाम-प्राणायाम प्रतिदिन अवश्य करें। मीठा, चावल, आलू, तेल वा घी में तले हुए पदार्थों के अधिक सेवन से बचें। आयुर्वेद और होम्योपैथिक में अनेकों ऐसी औषधियां हैं, जिनसे आपके शरीर की वसा कम हो सकती है। किसी चिकित्सक के परामर्श से उन दवाओं का भी सेवन कर सकते हैं। लौकी का जूस मोटापे को कम करता है। इस प्रकार की दिनचर्या का पालन करने से आप कुछ दिनों बाद स्वयं ही अपने को बीमारियों से दूर करके अपने को स्वस्थ महसूस करेंगे। ❐

महाभारत का महत्त्व

प्रिं0 छबीलदास
जालन्धर (पञ्जाब)

स्वाध्याय तथा पठन-पाठन के विषय में एक अत्यन्त मनोरंजक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण लेख लिखते हुए पश्चिम के एक विद्वान् और विचारक ने अपने असंख्य पाठकों से एक दिलचस्प और अनोखा प्रश्न पूछा था कि - 'यदि राबिन्स क्रूसो की तरह आपको भी किसी निर्जन टापू में 5-7 वर्ष के लिए एकान्तवास में रहना पड़े, और आपको इस बात की छुट्टी दे दी जाय कि आप अपनी मानसिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक भूख मिटाने तथा मनोरंजनार्थ अपनी पसन्द के एक विशेष लेखक की रचनाएं अपने साथ ले जा सकते हैं, तो किस लेखक का नाम लेंगे ?'

प्रश्न के उत्तर में सैकड़ों विद्याव्यसनी और पठन-पाठन के शौकीन लोगों ने शैक्स-पीयर, होमर, दान्ते, जार्ज बर्नाड शॉ, विक्टर ह्यूगो, वर्जिल टालस्टाय, अनातोले फ्रांस, डिक्कंस इत्यादि-इत्यादि नामों के अतिरिक्त तौरेत, बाईबल, कुरान आदि ग्रन्थों के नाम भी लिख दिये। उस लेखक के विचित्र प्रश्न को पढ़कर मुझमें जिज्ञासा पैदा हुई कि यदि इस प्रश्न का उत्तर मुझे भी देना पड़ता तो मैं किस महान् और विश्वविख्यात ग्रन्थ-रचयिता की किस कृति का नाम ले पाता ? इस समस्या ने मुझे चिरकाल तक असमंजस में डाल रखा था। अकस्मात् ही मुझे एक पुस्तकालय में से ग्वालियर राज्य के भूतपूर्व न्यायाधीश और संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् स्व0 चिन्तामणि विनायक वैद्य की अपूर्व रचना **'महाभारत-मीमांसा'** के अवलोकन और अध्ययन का अवसर मिला। महाभारत-मीमांसा के पढ़ने से मेरे मन में मूल महाभारत के पढ़ने की तीव्र उत्सुकता और जिज्ञासा पैदा हो गई।

मैंने मित्रों की सहायता से गीता-प्रेस गोरखपुर की ओर से प्रकाशित सटीक महाभारत की छः जिल्दें एक-एक करके जब पढ़ीं, तब प्रतीत हुआ कि सचमुच ही महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित यह ग्रन्थ हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति का एक विशाल बृहत्-कोश (Encyclopaedia) है। मैं तो इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि निस्सन्देह जिस व्यक्ति ने महाभारत नहीं पढ़ा, वह हिन्दू-सभ्यता और आर्यसंस्कृति के क-ख-ग से भी अनभिज्ञ है। भला हो स्वनामधन्य चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य तथा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जैसे धुरन्धर विद्वानों और भारत के उन सपूतों का, जिन्होंने **'महाभारत के पात्र'** तथा **'श्रीकृष्ण-चरित्र'** जैसे अनुपम ग्रन्थ अत्यन्त सरल और मनोहर भाषा में लिखकर अपने हजारों-लाखों देशवासी बहिन और भाईयों को महाभारत से परिचित किया है।

मेरा भी मन चाहता है कि देश की कोई संस्था भारत की भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं में महाभारत में से कुछ भाग 'सावित्री-सत्यवान्' 'नलोपाख्यान' 'यक्ष-युधिष्ठिर संवाद' युद्धक्षेत्र में बाणशैया पर 58 दिन लेटे हुए वृद्ध भीष्म पितामह के राजधर्म, गृहस्थ-धर्म आदि पर ललित भाषा में वर्णित शान्ति-पर्व के उपदेश, पाण्डवों का अज्ञातवास इत्यादि-इत्यादि कई पृथक्-पृथक् छोटे-छोटे भागों में प्रकाशित किये जायें जिससे देशवासियों का अज्ञानान्धकार दूर हो सके।

महाभारत के जिस भाग ने मुझे प्रभावित किया, वह है - महर्षि कणिक द्वारा महाराज धृतराष्ट्र को दी गई कूटनीति की अद्‌भुत शिक्षा। पाश्चात्य देशों - यूरोप तथा अमेरिका के राजनीतिज्ञ और शासक इटली के मनस्वी मैक्यावैली को कूटनीति का धुरन्धर विद्वान् मानते हैं और बीसवीं शताब्दी में भी; जबकि सभ्य संसार दो-दो विनाशकारी और प्रलयंकर महायुद्धों की अग्नि में झुलसकर अपनी अपार धन-जन नाश के लोहमर्षक दृश्य अपनी आंखों से देख चुका है। और जिसके सिर पर ऐटमबम तथा हाइड्रोजन बम जैसे विध्वंसक और विनाशकारी संग्राम के बादल मंडरा रहे हैं, मैक्यावैली की कूटनीति से मुंह मोड़ने का स्वप्न नहीं दिखाई देता। उस कूटनीति की चालों के सामने राष्ट्रसंघ के विश्वशान्ति के आदर्श और स्वप्न मृगतृष्णा सिद्ध हो रहे हैं। जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर है, वह भी महाभारत में वर्णित कणिक-नीति के अध्ययन का कष्ट उठालें तो उनकी आंखें खुल जायें कि हम किस प्रकार के थोथे आदर्शवाद और अहिंसावाद के अर्थहीन नारों में विश्वास रखते हुए अपने पैरों पर कुल्हाड़ा मार रहे हैं।

कणिक-नीति का सारांश यह है कि राजनीति के क्षेत्र में मित्र तथा शत्रु दो बड़े महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, जो आपके देश तथा जाति का हितैषी है, वह आपका सुहृद् और मित्र है, परन्तु तो मनसा-वाचा-कर्मणा आपकी हर समय जड़ें खोखली करता रहा है, और आठों प्रहर आपके देश का अनिष्ट सोचता और अनिष्ट चाहता है, वह आपका शत्रु है। राजनीति में मित्र को मित्र तथा शत्रु को शत्रु समझने तथा उसके प्रति यथायोग्य व्यवहार में ही आपका कल्याण है। **'विषकुम्भं पयोमुखम्'** श्रेणी के लोगों से सदैव सावधान रहना चाहिये। शासक वर्ग को सदैव बाह्यरूप से धर्मात्मा, दयालु, सत्यवादी आदि बने रहना चाहिये।

भारतदेश का सौभाग्य है कि यहाँ नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक, महर्षि दयानन्द, श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय, योगी अरविन्द घोष जैसी महान् विभूतियों ने जन्म लिया और महाभारत, चाणक्य-नीति, कणिक-नीति, विदुर-नीति, नीति-शतक जैसे ग्रन्थों को पढ़कर आर्यों ने पाश्चात्य कूटनीति के हथकंडों को समझकर, देश की राजनीति को उस ओर मोड़ दिया कि हमें स्वतन्त्रता का आस्वादन प्राप्त हो सका। पर आज उस आस्वादन में विष घोलने वाले जहरीले नागों से देश को बचाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है, अन्यथा देश को पुनः परतन्त्र होने से कोई नहीं बचा सकता। ❐

ऋषि दयानन्द की विशेषताएं

आचार्य बृहस्पति
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

ऋषि दयानन्द संसार के धार्मिक महापुरुषों में एक विशिष्ट और अलौकिक व्यक्ति हुए हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनके जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में व्यापकता, समन्वय-बुद्धि, उदारता, स्पष्टता और निर्भीकता थी। व्यापक दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य यह है कि उन्होंने जीवन को सर्वाङ्ग रूप में देखा था और उसके प्रत्येक अङ्ग और पहलू पर विचार करके अपने सिद्धान्त स्थापित किए। उनसे पूर्व के सुधारकों और धर्म-प्रवर्त्तकों में से जहाँ एक ओर भारतीय सुधारकों ने मानव के व्यक्तिगत जीवन पर ही विशेष बल दिया था, वहाँ दूसरी ओर पश्चिम में व्यक्ति को बिल्कुल ही भुला दिया गया था।

हिन्दूकाल प्रारम्भ होने के पश्चात् तो भारत में सामाजिक और सामूहिक सङ्गठन बिल्कुल ही क्षीणप्राय हो चुके थे। वैदिक काल की समष्टि की भावना उसमें से लुप्त हो चुकी थी। ऋषि दयानन्द ने इस शाश्वत तथ्य को अनुभव किया कि 'मानव एक सामाजिक प्राणी है और इसलिये मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कोई भी संस्था अथवा व्यवस्था ऐसी नहीं हो सकती, जिसमें सामाजिक भावना की उपेक्षा की जा सके। इसीलिये उन्होंने वैदिकधर्म का पुनरुद्धार करते समय विश्वभर के मानवों का एक सुसङ्गठित-समाज बनाने का कार्य प्रारम्भ किया, और उसी के परिणामस्वरूप आज देश-विदेश में उनके द्वारा 'आर्यसमाजों' का एक विस्तृत सङ्गठन फैला हुआ है। आर्यसमाज के दस नियमों में से नियम संख्या छः, आठ, नौ और दस - उनकी इसी सामाजिक भावना के द्योतक हैं। वेद के जिन मन्त्रों को उन्होंने अपने ग्रन्थों में दुहराया है, उनका भी यही आदेश है -

सं ग॑च्छध्वं॒ सं व॑दध्वं॒म् .... ॥
स॑मा॒नी व॒ आकू॑तिः स॒माना हृ॑दया॑नि व॑ः ॥ (ऋ0 10/191/2,4) इत्यादि

इतना ही नहीं, सामाजिक जीवन के भी प्रत्येक क्षेत्र पर उन्होंने विचार किया। वे स्वयं तो जीवनभर एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी अथवा वीतराग संन्यासी ही रहे, किन्तु गृहस्थ और वानप्रस्थ पर भी उन्होंने पूर्ण विस्तार के साथ अपने विचार प्रकट किये हैं। और सत्योपदेष्टा तपस्वी विद्वान् ब्राह्मण-वर्णी होते हुए भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और दुकानदार, सेव्य-सेवक, आदि सभी वर्गों के कर्त्तव्याधिकारों की विशद् विवेचना की है। राज और प्रजाधर्म पर लिखा हुआ उनका छठा समुल्लास तो अपने-आप में ही एक अतुल निधि है। व्यक्तिगत जीवन का भी आरम्भ उन्होंने छात्रावस्था, बाल्यावस्था अथवा शैशवावस्था से ही नहीं, अपितु उससे भी पूर्व गर्भावस्था और

गर्भ से भी पूर्व माता-पिता की रज-वीर्यावस्था से प्रारम्भ हुआ माना है। जीवन-निर्माण के इस महत्त्वपूर्ण अङ्ग की ओर जीवनशास्त्रियों का ध्यान आकर्षिक करके उन्होंने सामाजिक-विज्ञान के क्षेत्र में एक नवीन अध्याय का उद्घाटन किया है। शिक्षाशास्त्रियों के लिये उनके द्वारा प्रतिपादित **"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद"** का सिद्धान्त-सूत्र एक बहुत बड़े पथ-प्रदर्शक का काम करता है।

उनकी समन्वयात्मक-सामञ्जस्यात्मक बुद्धि का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों का सच्चा स्वरूप बताकर जीवन में दोनों का अपना अलग-अलग स्थान निश्चित कर दिया और मोक्षोन्मुख निष्काम प्रवृत्ति मार्ग का पथ प्रशस्त किया।

ज्ञान, कर्म, भक्ति - त्रय का समन्वय, षड्दर्शनों का समन्वय आदि अनेक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन उन्होंने किया है, जो अपूर्व हैं, और उनकी समन्वयात्मक बुद्धि की तीक्ष्णता के परिचायक हैं। उनके दृष्टकोण की उपर्युक्त व्यापकता और समन्वयात्मकता का मूलस्रोत तीन ही थे। **प्रथम** - सत्यानुसन्धान शील प्रवृत्ति से प्रेरित और स्वयं प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार करके उपार्जित किया हुआ निजी अनुभव। **द्वितीय** - वेदशास्त्रों के अनुशीलन द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान, और **तृतीय** - जन्मजात तार्किक बुद्धि द्वारा तर्क तुला पर नापा-तोला हुआ ज्ञान। दार्शनिक भाषा में हम कहें तो यह कह सकते हैं कि उनका ज्ञान प्रत्यक्ष, शब्द और अनुमान के प्रमाणत्रय पर आधारित था। वे न कोरे प्रत्यक्षवादी थे, न कोरे शब्द प्रमाणवादी और न कोरे तर्कवादी ही थे; इस विषय में भी वे प्रमाणत्रय-समन्वयवादी ही थे। ऋषि का समस्त जीवन उनके इसी सत्य के अनुसंधान और सत्यार्थ-प्रचार से ओतप्रोत है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा काम उन्होंने अपने जीवन में किया ही नहीं; यही **सत्य-अनुसंधान, सत्य-साधना** और **सत्य-सेवा** उनके जीवन का सर्वस्व था।

कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए, उनकी दृष्टि के विषय में ठीक ही कहा था -

"मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को, जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा, और जिसकी बुद्धि ने भारतीय जीवन के सब अङ्गों को प्रदीप्त और आलोकित कर दिया।"

मेरा मन कहता है कि कविवर के उपर्युक्त वाक्यों में **'भारत'** के स्थान पर **'संसार'** शब्द जोड़ देना चाहिये।

ऋषि दयानन्द की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने प्रेममय और निर्भीक हृदय से स्वानुभूत वेद प्रतिपादिक और तर्कसम्मत सत्य का प्रकाश और प्रसार किया। निस्सन्देह महर्षि की इस निर्भीकता का आधार उनके चरित्र की निष्कलङ्कता और ईश्वर-विश्वास था, और उनकी मूल प्रेरणा थी - प्राणिमात्र के प्रति हृदय की करुणार्द्रता। सत्य का प्रचार करने में उन्हें आजकल के किन्हीं-किन्हीं आर्य-भाईयों की

भाँति न तो हिन्दूपने का मोह या पक्षपात था, और न ईसाईयत या इस्लाम से द्वेष। और न कांग्रेसियों की भाँति इस्लाम आदि का लिहाज, अथवा राजनैतिक दलगत लोभ या नीति सम्बन्धी चालों का आग्रह ही उन्हें था। उनका तो **'सत्यार्थ-प्रकाश'** में उद्घोषित एक ही सिद्धान्त था –

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(विदुरनीति)

उनकी निर्भीकता के विषय में मुस्लिम महिला ख़मीदा बेग़म ने कहा था –

"नैपोलियन और सिकन्दर जैसे अनेक महान् सम्राट् और विजेता हो चुके हैं, परन्तु महर्षि उन सबसे बढ़कर हैं।"

उनकी जीवनलीला की समाप्ति की ही घटना उनके प्रेमपूर्ण हृदय की निर्भीकता का ज्वलन्त उदाहरण है। किन्तु यह बात नहीं है कि यह निर्भीकता उनके जीवन के अन्तिम दिनों में डेस्परेट (Dasperate) या केवल निराश हो जाने के कारण से उत्पन्न हो गई हो। उनका समस्त जीवन ही ऐसी घटनाओं से भरा हुआ है।

मृत्युकाल से बहुत पहले की घटना है – जोधपुर में स्वामी जी ईसाईमत का खण्डन कर रहे थे। एक यवन मोहम्मद हुसैन ने, जो तत्कालीन उच्च पदाधिकारी का भतीजा था, क्रुद्ध होकर स्वामी जी ने कहा – 'स्वामी जी ! आप किसी मज़हब की बुराई नहीं कर सकते। खैर इसमें है कि हमारे मज़हब के बारे में एक शब्द भी कुछ न कहना। वरना .... ।" उसी समय सत्य के परमभक्त उस बलवान् आत्मा ने उत्तर दिया – "मैं अभी ईसाईमत पर बोल रहा हूँ, इसको पूर्ण करके तुम्हारे मोहम्मद साहेब और इस्लाम की भी समीक्षा करूँगा।" फिर क्या था, ऋषि ने इस्लाम के जमीन-आसमान और सातों आसमानों तक की ऐसी निर्भीकता से तर्कपूर्ण धज्जियाँ उड़ाईं कि मोहम्मद हुसैन का कहीं पता भी नहीं चला। उसी सभा में मिस्टर बीन नामक एक योरोपियन उपस्थित थे। वे महर्षि दयानन्द जी की दिव्य वाणी सुनकर इतने मुग्ध हुए कि फूट-फूटकर रोने लगे और स्वामी जी के दोनों चरण पकड़कर बोले –

"हे पूज्य जगद्गुरु, सुधारक और मानवजाति के नेता ! मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, मुझे अपना शिष्य बना लो।"

दिव्यज्ञान के सच्चे सैनिक, संसार को सच्चे शिव की शरण में लाने वाले उस महर्षि ने मिस्टर बीन को उठाकर छाती से लगाया और निरहङ्कार प्रेमपूर्ण शब्दों में उत्तर दिया –

"शिष्य बनाना मठाधीशों का काम है, मैं तो उपदेश करता हूँ। सो तुम यहाँ आया करो, और सत्य को ग्रहण किया करो।"

उपर्युक्त सब अलौकिक गुण होते हुए भी ऋषि की तीसरी विशेषता जो उन्हें समस्त धर्म-प्रवर्त्तकों ने पृथक् करती है, वह यह है कि उन्होंने लोकोत्तर पुरुष होते हुए भी स्वयं को अवतार अथवा ईश्वर का अग्रदूत बनने और बनवाने का भी खण्डन किया। उन्होंने अपने भक्तों से व्रत नहीं कराया – **'बुद्धं शरणं गच्छामि'**

की भाँति **'दयानन्द शरणं गच्छामि'** नहीं सिखाया। उनका व्रतोपदेश यही था –

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु0 1/5; 31/18)

भगवान् करे कि समस्त ऋषिभक्त आर्यजन राग-द्वेष से ऊँचा उठकर विश्वजनीन वैदिक सच्चाईयों का विश्वभर में इसी उदारता और निर्भीकता से प्रचार करने के अपने उत्तरदायित्त्व को फिर से पहचान सकें और अमा के गाढ़ान्धकार को दूर करने के लिए अपने जीवन की आहुति देकर सत्य का आलोक विश्वभर में फैलाकर विश्व को आलोकित करने का पुरुषार्थ कर, ऋषि-ऋण से उऋण होने में सक्षम हो सके।

❐

वह भी क्या कोई जीवन है ?

हरिशङ्कर शर्मा

जिसमें उत्साह-उमङ्ग नहीं,
वह भी क्या कोई जीवन है?

जो भरा हुआ है रोगों से, जर्जर है भौतिक भोगों से।
जिसमें न कर्म की शक्ति शेष, तप-त्याग साधना का न लेश।
अति शिथिल क्षीण निर्बल तन है, वह भी क्या कोई जीवन है॥1॥

जिसमें शुचिता सद्भाव नहीं, अनुराग, त्याग, सु-प्रभाव नहीं।
जिसको भाया मद-मत्सर है, अति दीन-हीन, पर-निर्भर है।
दुर्भाव, दम्भ, दूषित मन है, वह भी क्या कोई जीवन है॥2॥

जिसमें होता निज भोग नहीं, परहित में भी उपयोग नहीं।
जो क्रूर कर्म का साधक है, प्रभुता प्रमाद आराधक है।
एकत्र किया कुत्सित धन है, वह भी क्या कोई जीवन है॥3॥

जिसके तन-मन-धन शुद्ध नहीं, जो स्वस्थ पवित्र प्रबुद्ध नहीं।
जो स्वार्थ-स्वाति का चातक है, मानवता का अघ-पातक है।
पशुता का प्रबल प्रदर्शन है, वह भी क्या कोई जीवन है॥4॥

धर्म और मत का अन्तर

(दयाशङ्कर गोयल)

धर्म और मत के अन्तर को समझें और समझायें।
इस विषयक जो भ्रम व्यापक हैं, उनको दूर भगायें॥

हर वस्तु का धर्म उसी में विद्यमान रहता है।
वह मानव निर्मित न होकर प्रभु-प्रदत्त होता है॥

जैसे अग्नि में दाहकता, जल में शीतलता है।
जो उसकी पहचान-शक्ति-गुण धारणीय क्षमता है॥

जब तक दाहकता है, अग्नि तब तक अग्नि कहाती।
दाहकता मिटते ही वह राख की संज्ञा पा जाती॥

धर्म एक होता मानव का, मत अनेक हैं होते।
भेदभाव से रहित धर्म, मतभेद मतों में रहते॥

धर्म जोड़ता, उन्नति देता, नर को देव बनाता।
विस्तृत दृष्टि को देता, उसे मुक्ति तक पहुंचाता॥

मत, बिखेरते, विविध मतों में तिरस्कार न भरते।
दृष्टि को संकीर्ण बना, बाधा मुक्ति में करते॥

धर्म, तर्क; विज्ञान और सृष्टि-क्रम से सम्मत है।
मत, अल्पज्ञ, अतर्क-युक्त, गप्प-गाथाओं से युक्त है॥

धर्म, मनुज को प्राणिमात्र से करना प्रेम सिखाता।
मत तो मनुज-मनुज के मध्य दीवारें उठवाता॥

हिंसा को स्थान धर्म में, किञ्चित् कहीं नहीं है।
जबकि मतों में हिंसा और अहिंसा दोनों ही हैं॥

धर्म, दया-करुणा-समानता, परोपकार, सच्चाई।
पूर्ण अहिंसा प्रेम आदि सद्गुण संयुत अच्छाई॥

इसमें ईर्ष्या-द्वेष-घृणादि, दुर्गुण कहीं नहीं हैं।
जबकि मतों में अच्छाई, सङ्ग में कुटिलता भी हैं॥

अस्तु, पंथ-मत-सम्प्रदाय के, भ्रम में न भटकायें।
शुद्ध धर्म वैदिक आधारित, जियें शान्ति-सुख पायें॥

क्या आप स्वस्थ हैं ?

होतीलाल आर्य
संस्थापक - वैदिक सत्सङ्ग मण्डल (हरिगढ़)

क्या आप स्वस्थ हैं ? यह प्रश्न यदि आप किसी सामान्य व्यक्ति से भी आकस्मिक कर बैठें, जो हर प्रकार से स्वस्थ दिखायी दे रहा हो, तो शायद वह इस प्रश्न का उत्तर देने में अवश्य ही हिचकिचायेगा; क्योंकि उसे स्वयं पता है कि मेरे शरीर में क्या-क्या समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं, फिर भी वह उस ओर ध्यान नहीं दे पाता।

इसका प्रथम कारण यह भी हो सकता है कि उसकी परिस्थितियाँ विपरीत हों, कार्य का बोझ और पारिवारिक जिम्मेदारियों का बोझ उसके ऊपर सामर्थ्य से अधिक हो। ऐसा व्यक्ति अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं दे पाता, वह उसकी मजबूरी है। तभी तो किसी ने लिखा है -

बांटते हैं ज़माने में खुशियों को हम।
अपने ग़म अपने दिल में छुपा लेते हैं॥

इस प्रकार के कारण को यदि पूर्वजन्म के अपुण्य का फल मान लिया जाय, तो इस भावना से स्वयं के मन में ग्लानि कम होगी, अन्यथा अधिक बोझ, विपरीत परिस्थितियों में ऐसा व्यक्ति अन्दर से टूटने लगता है। उसको जीवन से अधिक मृत्यु की चाह अधिक होने लगती है, और कभी-कभी इस घुटनभरी जिन्दगी से मुक्त होने के लिए उसे आत्महत्या ही एक रास्ता दिखायी देने लगता है।

दूसरा स्वस्थता की ओर ध्यान न देने का कारण **आलस्य** भी होता है। आलसी व्यक्ति भाग्य के भरोसे जीने की कोशिश करता है। उसके जीवन में रजोगुण और तमोगुण की इतनी अधिक प्राधान्यता होती है कि वह सामान्य निद्रा से दुगना सोने और खाने में अपना समय व्यतीत करना अच्छा समझता है। यदि किसी परिजन ने उसके इस व्यवहार पर कभी टोकने का दुस्साहस कर लिया तो वह क्रोध में तमतमा उठता है और अपनी मर्यादा भूलकर आपे से बाहर हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जहाँ आलस्य के कारण अपने स्वास्थ का हनन करता है, वहाँ वह क्रोध के द्वारा अपनी शान्ति ही भंग नहीं करता, अपितु परिजनों को भी अशान्त करने से नहीं चूंकता।

स्वस्थता की ओर ध्यान न देने का तीसरा कारण है - **अधिक ऐश्वर्य का होना।** अधिक धन आलस्य-प्रमाद और अहङ्कार को उत्पन्न करता है। धनवान् व्यक्ति प्रत्येक समस्या का निदान अपने धन से करने को उद्यत रहता है। उसे घमण्ड होता है कि यदि मेरे शरीर में किसी भी प्रकार की कभी समस्या उत्पन्न हो जायेगी, तो मैं अच्छे डाक्टर से अच्छी से अच्छी दवा लेकर अपने को ठीक कर लूँगा। पर क्या आपने ऐसा नहीं देखा कि धन से कुछ प्राप्त तो किया जा

सकता है, पर सब कुछ कभी नहीं। अस्पताल के उस मरीज़ पर दृष्टि डालिये, जिसके परिजन डाक्टर के सामने गिड़गिड़ाकर यह कहते दिखाई देंगे कि डाक्टर साहब आप पैसे ही चिन्ता मत करिये, जितना भी लगेगा हम पेमेंट कर देंगे, पर आप हमारे रोगी को ठीक कर दीजिये। डाक्टर 'हाँ' में उत्तर देकर अपने कार्य में जुट जाता है। पर जब वह रोगी को ठीक करने में अपने को असमर्थ पाता है, तो वह हाथ खड़े कर देता है और स्पष्ट कह देता है कि मैं जितना कर सकता था कर दिया, अब आप परमात्मा से प्रार्थना करो। विचारणीय बात यहाँ यह है कि यदि धन ही स्वास्थ्य देने में सक्षम होता तो कोरोना-काल में उन परिदृश्यों को स्मरण कीजिये, जिसमें नोटों की गड्डियां फैंकने वाले लोगों के मुख से यह शब्द निकल रहे थे कि - जब मेरा जीवन ही नहीं है तो मुझे इनसे क्या लाभ ? ये सिर्फ कागज़ के टुकड़े हैं, और कुछ नहीं। क्या इन परिदृश्यों में धन की वास्तविकता की सत्यता का अहसास नहीं होता ? अवश्य होता है, पर हम इन घटनाओं को भुला देते हैं और अपने पास जब तक रोग दस्तक न दे दें, उससे पूर्व निश्चिन्तता से जीवन व्यतीत करना अपना लक्ष्य मान लेते हैं, भविष्य में परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हों।

स्वास्थ्य पर ध्यान न देने का एक विशेष अन्य कारण है - हमारी खाने-पीने की विकृत आदतें। आज का मनुष्य स्वाभाविक प्रकृति प्रदत्त भोजन छोड़कर अप्राकृतिक भोजन करने का आदी बनता जा रहा है। शाकाहार पर मांसाहार इतना अधिक प्रबल हो रहा है कि विश्व में शायद दो-चार प्रतिशत ही ऐसे लोग होंगे जो इससे अपने को बचाकर रखे हुए हैं, अन्यथा मांसाहार निरन्तर हमारे जीवन का एक अभिन्न अङ्ग बनता जा रहा है। जब मांसाहार बढ़ेगा तो फिर शराब साथ क्यों न देगी ? जबकि मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है। परमात्मा ने मनुष्य को शाकाहारी प्राणी बनाया है, पर हम अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करके मांसाहार को शाकाहार की तरह करने पर उतारू हो रहे हैं। शाकाहार के लिए किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी पड़ती, जबकि मांसाहार बिना किसी प्राणी का वध किये आपको प्राप्त ही नहीं हो सकता। जो प्राणी परमात्म-व्यवस्था से अपनी भोगयोनि को प्राप्त कर संसार में अपने कर्म के परिणाम को भोगने के लिए आया है, हमने उसका वध करके जहाँ पाप का अर्जनकर अपनी वृत्ति को दूषित कर लिया, वहाँ परमात्मा की व्यवस्था को भी विध्वंस करके महापाप भी कर लिया। अब इस महापाप का भोग मनुष्य को भोगना ही पड़ेगा। हो सकता है कि इस समय आपको उसके दुष्परिणाम न दिखाई दे रहे हों, पर जब कर्मचक्र घूमता हुआ उस स्थिति तक आयेगा, जिसमें आपके पाप का फल भोगने पर आपको मजबूर होना पड़ेगा, उस स्थिति में आप कितने भी जप-तप, दान-पुण्य कर लेना, पर पाप का फल आपको भोगना ही पड़ेगा। क्योंकि शास्त्रों का कथन है कि - मनुष्य जैसा करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

इसलिये समय रहते सावधान हो जाओ और पाप को छोड़ पुण्य की ओर मुंह मोड़ लो।

याद रखो, पाप का फल दुःख है और पुण्य का फल सुख है। मांसाहार करके अपने शरीर को चलती-फिरती कब्रिस्तान मत बनाओ। जब आप श्मशान में जाते हैं या किसी भी परिस्थिति में मुर्दे का स्पर्श कर लेते हैं, तब आप अपनी शुद्धि के लिए स्नान करते हैं। पर क्या आपने कभी विचार किया कि आप जिस प्राणी को मारकर खा रहे हैं, जब उस प्राणी का आत्मा शरीर को छोड़कर चला गया, तो उसका शरीर मुर्दा बन गया। अब आपने उस मुर्दे को कच्चा या पकाकर अपने उदर में रख लिया, तो क्या आपका शरीर चलती-फिरती कब्रिस्तान नहीं बना ? पर चूंकि आपने इस बात पर कभी विचार ही नहीं किया। आप जिस भीड़तन्त्र में रहते हैं, आपके जितने साथी हैं या आप जिन मित्रों के परिवेश में रहते हैं, उन्होंने आपकी विचारशक्ति को ही समाप्त कर दिया है। **'खाओ पीओ मौज करो'** की भावना आपके मन में इस प्रकार से स्थिर हो गई है कि आप अपनी मौज़मस्ती के लिए कोई भी पाप कर लें, किसी की भी हत्या कर दें, आपको अपने किये पाप का किञ्चित् भी अहसास ही नहीं होता। यह अंधेर कब तक चला सकोगे ? जब स्वास्थ्य जबाव देने लगता है तो परिजन धीरे-धीरे आपका साथ छोड़ते जायेंगे और एक दिन आपकी आत्मा से यह आवाज़ जरूर निकलेगी -

मैं फूल चुनने आया था बागे़ हयात में।
दामन को ख़ार जार में उलझाके रह गया॥

जब आप अपने प्रति किये जाने वाले कर्त्तव्य व उद्देश्य को ही भूल गये, तब आप अपने को मनुष्य कहने का कैसे दावा कर सकते हैं ? पशु आज भी पशु है, क्योंकि उसके पास मात्र पशुत्व की बुद्धि है। वह बहुत अधिक अच्छा-बुरा नहीं सोच सकता और न किसी प्रकार का अन्वेषण कर सकता है। परन्तु परमात्मा ने मनुष्य को इसीलिए बनाया है कि यह प्रत्येक कार्य मनन पूर्वक कर सके। उस मनन की परिशुद्धि के लिए उस विधाता ने मनुष्य को नैमित्तिक बुद्धि की भी विशेष कृपा कर दी, जिससे वह धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, अच्छा-बुरा के विवेक करने की क्षमता रख सके। पर जब मनुष्य स्वार्थ में अन्धा होकर मनन करना छोड़, मनमाने कार्य में संयुक्त हो जाता है, तो वह पशु से भी अधिक निकृष्टतम स्तर पर पहुंच जाता है। जो ग़लतियां कर लीं, उनका भविष्य में तो सुधार किया जा सकता है, पर जो भूतकाल में हो चुकी हैं, उनका परिणाम तो आपको भोगना ही पड़ेगा।

अतः मानव शरीर की श्रेष्ठता को समझो। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य जन्म आपको दोबारा मिल ही जाये। इस अवसर को चूकने के बाद पता नहीं वह अवसर कब आये, क्योंकि उसकी कुंजी आपके पास नहीं है। मनुष्य जन्म मिला है तो प्रत्येक कार्य मनन करके करो। बार-बार सोचो कि मैं संसार में क्यों आया हूँ ? मुझे मनुष्य जन्म मिला है तो क्या मात्र खाने-पीने या सन्तान पैदा करने के लिए मिला है ? यह कार्य तो अन्य जीवन में भी होता है। यदि हमें मनुष्य जन्म मिला है तो आने के कारण को ढूंढ़ना होगा। अपने वर्त्तमान कर्मों पर विचार

करना होगा, क्योंकि यही कर्म हमारे परलोक की स्थिति का कारण बनेगा। इसलिये अपने शरीर को पढ़ो, अपनी बीमारियों को पढ़ो, उसके कारण को पहचानो; क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता। यदि अस्वस्थता है तो उसका कारण क्या है, बार-बार विचार करो। पूर्वकृत कर्म का परिणाम है तो सहजता से स्वीकार करो, क्योंकि जैसे रात्रि के बाद दिन आता है, वैसे दुःख के बाद सुख अवश्य आयेगा। और यदि दुःख वर्त्तमान के कर्म का परिणाम है, तो उस दुःख के कारण को दूर कर दो, दुःख मिट जायेगा; अन्यथा दुःखसागर में डूबकर पछताने के अलावा आपके हाथ कुछ न लगेगा।

स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है - **प्रतिदिन व्यायाम करना।** व्यायाम का सामान्य अर्थ है - शारीरिक परिश्रम। यहाँ यदि आप यह कहने लगें कि मैं सारे दिन काम करते-करते थक जाता हूँ, तो मुझे व्यायाम की क्या आवश्यकता। इस सन्दर्भ में मेरा मात्र निवेदन यह है कि दिनभर के कार्य का बोझ आपको मानसिक रूप से थका देता है, पर यदि आप व्यायाम का नियम बना लेंगे तो यह आपकी प्रतिदिन होने वाली थकान को जहाँ कम करेगा, वहाँ आपके शरीर में विशिष्ट ऊर्जा का संचार कर देगा। आप जिस कार्य को कर रहे हैं, उसमें सभी अङ्गों का प्रयोग होता हो, आवश्यक नहीं है। व्यायाम में वह प्रक्रियायें आसनों के माध्यम से की जाती हैं, जिसमें शरीर के सभी अङ्गों का प्रयोग होता है। इसके साथ-साथ आपकी श्वांसों की गति में जिस प्रकार से ठहराव आता है, वह आपकी ऊर्जा को बढ़ाता है। व्यायाम के साथ यदि अनुलोम-विलोम, कपालभाति जैसे प्राणायामों का संयोग कर लिया जाय तो सोने में सुगन्धि वाली बात हो जायेगी। प्राणायाम शरीर के उन तन्त्रों में ऑक्सीजन भर उन्हें संचारित कर देता है, जिनकी आपके जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये स्वस्थता प्राप्त करने के लिए कम से कम आधा घण्टा प्रतिदिन व्यायाम करने का नियम बनाईये, लाभ होगा।

स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है - **पूर्ण निद्रा का होना।** जब आप बिस्तर पर रात्रि को सोने के लिए जायें तो मोबाइल, टी.वी आदि का प्रयोग न करें। कोशिश करें की ऑफिस के कार्य को वहीं का वहीं समाप्त कर दें। यदि परिस्थितिवशात् घर पर कार्य करना ही पड़े तो प्रातः जल्दी उठकर अपना समय निकालकर उस कार्य को कर लें; पर नींद के समय नींद अवश्य लें। जैसे शरीर को भोजन आवश्यक है, वैसे शारीरिक ऊर्जा के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए उचित नींद का भी होना आवश्यक है। नींद गहरी हो और छः से सात घण्टे की हो, वह आपके लिए पर्याप्त है। यदि आपको ऐसा लगता है कि मेरी नींद ठीक नहीं है, तो आप किसी चिकित्सक से परामर्श लें और अपनी नींद के चक्र को ठीक करें। अधिक सोना या अधिक जागना - दोनों कार्य ही स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

उपर्युक्त बिन्दुओं पर आपने यदि ध्यान दिया, तो आप कुछ समय बाद स्वाभिमानपूर्वक कह सकेंगे - **अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ।** ❐

प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप में अन्तर

आचार्य सुधाकर
नारायण विहार, नई दिल्ली

प्रायः हम सभी **'प्रायश्चित्त'** और **'पश्चात्ताप'** को एक ही मानते हैं, जबकि ये दोनों शब्द पृथक्-पृथक् अर्थ वाची हैं। पश्चात्ताप शब्द **'पश्चात्'** और **'ताप'** दो शब्दों के योग से बना है। पश्चात् का अर्थ है - बाद में या पीछे; और 'ताप' का अर्थ है - दुःख। अर्थात् किसी कार्य में होने वाली न्यूनता, अधिकता या किसी प्रकार के पाप हो जाने पर कार्य की समाप्ति के बाद यह स्वीकार कर लेना कि वास्तव में मुझसे यह भूल हो गयी है, इसका नाम **'पश्चात्ताप'** है।

आजकल अंग्रेजी भाषा में सॉरी (Sorry) शब्द इतना रट-पिट गया है कि बड़े हों या बच्चे, बात-बात में सॉरी (Sorry) कहने में नहीं हिचकिचाते। बच्चे अनेक बार माता-पिता के सामने अपनी भूल पर सॉरी (Sorry) कहकर पीछा छुड़ा लेते हैं, पर बाद में वह भूल व कार्य पुनः कर लेते हैं; क्योंकि वह यह मान लेते हैं कि माता-पिता यदि उन्हें इस कार्य पर डांटेंगे, तो वे सॉरी (Sorry) कहकर उन्हें मना लेंगे। वे बच्चे सॉरी (Sorry) कहने पर भी ग़लती को करना नहीं छोड़ते, जिसके कारण उन्हें डांटा गया है।

पश्चात्ताप शब्द में सॉरी (Sorry) शब्द से अधिक गहराई और गम्भीरता दिखाई देती है। किसी प्रकार की भूल व पाप को महसूस करना अथवा दूसरे के सामने खेद प्रकट करना पश्चात्ताप है। हाँ, इतना अवश्य है कि भूल या पाप करने वाले के मन में पश्चात्ताप से अपने कार्य के प्रति ग्लानि व घृणा का भाव उत्पन्न हो सकता है। परन्तु 'प्रायश्चित्त' शब्द 'पश्चात्ताप' से बिल्कुल पृथक् शब्द और अति गम्भीरअर्थ वाची है। यदि ऐसा न होता तो हमारे शास्त्रों में पद-पद पर प्रायश्चित्त करने का विधान जो निश्चित किया गया है, वह न होता। आप स्मृति ग्रन्थों को अथवा पुराण ग्रन्थों को पढें, अनेकों स्थलों पर प्रायश्चित्त करने का विधान लिखा है। पर यहाँ यह भी स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि प्रायश्चित्त प्रत्येक अपराध व पाप में नहीं होता। क्योंकि मनुष्य जो भी अपराध, भूल व पाप करता है, वह किस रूप में किया गया है, यह आंकलन भी आवश्यक है।

धर्मशास्त्रकारों ने उन पाप-अपराधों को दो श्रेणी में बांटा है - ऐच्छिक और अनैच्छिक। अर्थात् जानबूझकर किया जाने वाला पाप ऐच्छिक या अनजाने में हो जाने वाला पाप अनैच्छिक। महर्षि मनु जी की सम्मति है कि जो पाप अनैच्छिक होते हैं, वे प्रायश्चित्त से दूर हो सकते हैं **'अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः'** ऐसे पापों को - **'अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति'** वेदाभ्यास व

प्रायश्चित्त के द्वारा दूर किया जा सकता है, पर जो पाप ऐच्छिक अर्थात् जनबूझकर किये जाते हैं, उन पापों का प्रायश्चित्त किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं, उनका फल तो मनुष्य को भोगना ही पड़ेगा।

अब प्रश्न यह है कि जब धर्मशास्त्रों में पदे-पदे प्रायश्चित्त का विधान दिखाई देता है, तो प्रायश्चित्त शब्द का क्या अर्थ है ? इसके उत्तर के लिए प्रथम प्रायश्चित्त शब्द के सभी शब्दों को पृथक्-पृथक् करना आवश्यक है। प्रायश्चित्त शब्द **प्र+अय्+चित्त** तीन शब्दों के मेल से बना है। **'प्र'** का अर्थ है - प्रकृष्टता से, **'अय्'** का अर्थ गति करना, चलना और **'चित्त'** का अर्थ है - पूर्ण संज्ञान के साथ उस पूर्वभूल का स्मरण करते हुए। क्योंकि 'चित्त' शब्द **'चिति स्मृत्याम्'** और **'चिती संज्ञाने'** धातु से बना है, जो चिन्तन और स्मरण दोनों प्रकार के अर्थ का द्योतक है। तब प्रायश्चित्त का अर्थ हुआ कि - जो पाप आपकी स्मृति में विद्यमान है, उस पाप को पुनः न होने देना और बाद में प्रत्येक कार्य को पूर्ण ज्ञान के साथ करने के संकल्प करने को ही प्रायश्चित्त कहा जाता है।

पाराशर-माधवीय (2/1/3) में एक स्मृति के आधार कहा गया है कि -**'प्रायश्चित्त वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अनुताप करने वाले पापी का चित्त मानसिक असंतुलन से प्रायः विमुक्त किया जा सके।'**

याज्ञवल्क्य-स्मृति (3/206) की बालभट्टी टीका में प्रायश्चित्त की परिभाषा देते हुए स्पष्ट लिखा है - **'प्रायः पापं विर्निर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्'** अर्थात् **'प्रायः'** का अर्थ **'पाप'**, और **उसकी चित्त से शुद्धि करना** ही **'प्रायश्चित्त'** है।

धर्मशास्त्र के प्रथम प्रणेता महर्षि मनु जी ने **'प्रायश्चित्त'** का जो अर्थ समस्त मानवों के समक्ष उपस्थित किया है, वह निम्न प्रकार है -

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चय संयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

(मनुस्मृति 11/47)

अर्थात् - **'प्रायः'** का अर्थ है **'तप'** और **'चित्त'** का अर्थ है **'निश्चय'**। इस प्रकार तप और निश्चय दोनों का नाम प्रायश्चित्त है।

ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थ **'हिमाद्रि'** में महर्षि मनु द्वारा दी गयी परिभाषा को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा गया है -

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तमितीर्यति॥

प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जो भाव महर्षि मनु जी का है, वही हिमाद्रिकार का भी है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रायश्चित्त वह विधा है जिसमें तपश्चर्या की साधना करते हुए यह निश्चय किया जाय कि आगे भविष्य में न्यूनाधिक पाप या अनैच्छिक पाप हम किसी भी परिस्थिति में नहीं करेंगे।

इस प्रकार की चित्त शुद्धि की लिए की गई साधना, जो किसी भी मनुष्य के यज्ञादि विधि तथा जीवनयोपयोगी अन्य नियमों के निर्वहण करने का परम साधन ही प्रायश्चित्त है, जिससे भविष्य में पाप होने की सम्भावना पूर्णरूपेण समाप्त की जा सकती है। ❐

आत्मकल्याण के चार सोपान

तारा शर्मा
प्रधान - धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली

जब हम किसी सत्सङ्ग में जाकर प्रवचन सुनते हैं तो प्रायः सभी विद्वानों द्वारा एक बात बार-बार दोहरायी जाती है कि - **'आत्म-कल्याण करो'।**

अब प्रश्न यह है कि - **'आत्मकल्याण कैसे किया जाय ?'** क्या दान-पुण्य करने, कथा-सत्सङ्ग करने से आत्मकल्याण होता है ? जब इस पहेली को सुलझाने का प्रयत्न करेंगे तो आपको यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस सब कार्यों की आत्मकल्याण में कुछ न कुछ भागीदारी अवश्य है। ये कुछ अंश में अपनी सकारात्मक भूमिका अदा करते हैं, पर यदि आत्मकल्याण की पूर्णता के साथ इच्छा है, तो शास्त्रों के निम्न चार सोपानों पर कदम रखना आवश्यक है। वे निम्न हैं -

कुरु पुण्यमहोरात्रं, स्मर नित्यं महेश्वरम्।
त्यज दुर्जन संसर्गं, भज साधु समागमम्॥

आईये इस श्लोक में वर्णित चार सोपानों पर थोड़ा-सा विचार कर लें।

(1) <u>शुभकर्म करने का संकल्प</u> -

आत्मकल्याण का सबसे प्रथम सोपान है कि आप पुण्य अर्थात् शुभकर्म करने का अभ्यास करो। ऐसा नहीं कि पुण्यकर्म कभी-कभी कर लिये और शेष समय में अपुण्य; उससे कोई आपका विशेष लाभ नहीं होगा। एक बात प्रत्येक मनुष्य का सदा ही याद रखना चाहिये, वह यह कि -

मेरे दाता के दरबार में, सब लोगों का खाता।
जो भी जैसी करनी करता, वैसा ही फल पाता॥

यदि आप अनेकों पाप करके एक पुण्य का अर्जन करते हैं, तो यह पुण्य नहीं, अपितु अपने-आप से धोखा है। किसी ने कहा है -

बाटता है कम्बल, चमड़ी औरों की उतार करके।
हज़ को चली है बिल्ली, नौ सौ चूहे मार करके॥

यदि आप पाप माफ करने के चक्कर एक-दो पुण्य कर भी लें, तो भी परमात्मा के दरबार में पाप का फल दुःख माफ नहीं होगा। क्योंकि परमात्मा न्यायकारी है, उसके दरबार में छल-फरेब़, धोखाधड़ी नहीं है। वह न्यायकारी परमात्मा अपने स्वाभाविक धर्म न्याय के अनुसार सभी के कर्मानुसार न्याय करता है। जैसे न्यायाधीश का धर्म है सत्य को सत्य और असत्य को असत्य स्वीकार करना, वैसे ही परमात्मा चूंकि परम न्यायकारी है, उसके परिपुष्ट न्याय से क्या कोई बच सका है ? आप पुण्य करें या पाप करें, वह अन्तर्यामी रूप से सब कर्मों का दृष्टा है और सर्वशक्तिमान होकर न्याय करता है। उस प्रभु के न्यायालय में पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख अवश्य मिलता है, यही उसका न्याय है।

यहाँ आप प्रश्न कर सकते हैं कि –'यदि सत्य–असत्य, धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य का कर्म करने से पूर्व ही पता लग जाये तो मनुष्य पापकर्म क्यों करेगा ? पाप तभी होता है, जब उसको यह ज्ञात ही नहीं कि पुण्य क्या है और पाप क्या है, तभी वह पाप का भागी बन जाता है।'

इस सम्बन्ध में मेरी ही नहीं, अपितु सभी विद्वानों की मान्यता यह है कि क्या पाप है और क्या पुण्य, हर एक मनुष्य इस बात को जानता है। विद्वानों ने इस बात को सरलता से समझाने के लिए यहाँ तक कह दिया कि – 'जिस कार्य को करते समय **भय, शङ्का** और **लज्जा** जैसे भाव हृदय में उत्पन्न हों, वह **पाप** है और जिस कार्य के प्रारम्भ करते समय **हर्ष, प्रसन्नता, उत्साह** आदि भाव उत्पन्न हों, वह कार्य **पुण्य** है। इसलिये आज से ही आप गांठ बाँध लें कि मैं सदा शुभ या पुण्य कर्म ही करूँगा, पाप कभी नहीं।'

आपने अनेक स्थानों पर एक वाक्य लिखा देखा होगा कि – **'कम से कम एक नेक काम अवश्य करें।'** वाक्य सुनने–पढ़ने में बहुत अच्छा लगता है, पर जब आप इस वाक्य पर विचार करेंगे तो आपको प्रतीत होगा कि यह वाक्य पूर्णतः उचित नहीं है। क्योंकि 1% कार्य आप अच्छा करते हैं और 99% कार्य पाप के करते हैं। जब परमात्मा उसका परिणाम आपको देगा तो 99% पापों के दुःख के उस भंवर में एक पुण्य का फल परमात्मा द्वारा न्याय के आधार पर आपको यदि मिल भी गया, तो दुःख सागर में डूबे रहने के कारण आप उस पुण्य के सुख की अनुभूति ही नहीं कर पायेंगे। इसलिये अपने प्रत्येक क्षण को शुभ कार्यों में इस प्रकार लगाने का अभ्यास करो कि आपके मनसा–वाचा–कर्मणा में मात्र पुण्य ही पुण्य अर्जित हो। आपका इस प्रकार का किया गया अभ्यास आत्मकल्याण के प्रथम सोपान को सुगमता से आगे बढ़ने में निश्चित ही सहायक होगा।

(2) <u>प्रभु–चिन्तन</u> –

जीवन का समस्त कार्य शरीर, मन, बुद्धि पर अवलम्बित है। हमारी गति आत्मा तक कभी जाती ही नहीं, इसलिये सब कुछ प्राप्त करने के बाद भी हम अतृप्त रहते हैं। उस अतृप्ति को दूर करने के लिए आत्मकल्याण के द्वितीय सोपान पर कदम रखना आवश्यक है, और वह है – प्रभु चिन्तन। हम सब जानते हैं कि संसार में एक ऐसी अदृश्य शक्ति है कि जब हमारी बुद्धि खोज करते–करते थक जाती है और हमें यह आभास होने लगता है कि अभी जानने के लिए बहुत कुछ शेष है, तब ऋषि–मुनि **'नेति–नेति–नेति'** कहकर उस अदृश्य शक्ति जिसे परमात्मा या प्रभु कहते हैं, उसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। उन सब साधकों की यह मान्यता है कि अनन्त शक्ति का भण्डार परमात्मा है। पर उस तक पहुँचना आसान भी नहीं है। कारण, जब–जब मनुष्य उस परमात्मा की भक्ति में अपने को संयुक्त करने का प्रयत्न करता है, मन अपनी चंचलता के कारण उस भाव में स्थिर नहीं रह पाता, जिसके लिए उसने अपना लक्ष्य निर्धारित किया है। लक्ष्य अच्छा हो, पर कार्य उसके अनुकूल न हों, तो परिणाम फिर अनुकूल कैसे सम्भव हो सकता है ? इस स्थिति को

संभालकर उस परमात्मा में मन को लगा देना कोई आसान काम नहीं है। क्योंकि जैसे ही हम अपना मन भक्ति में लगाते हैं, मन कहीं और भाग जाता है। इसलिए मेरा इस सम्बन्ध में एक परामर्श यही है कि आपका मन पूरी तरह से रुक सके न रुक सके, पर उसे लगाने का प्रतिदिन उद्योग अवश्य करो। आप कम से कम प्रातः सायं कुछ समय निकालकर परमात्मा के चिन्तन में अवश्य बैठने का प्रयत्न करो। गायत्रीमन्त्र या महामृत्युञ्जय मन्त्र या किसी अन्य वेदमन्त्र द्वारा परमात्मा में ध्यान लगाने का प्रयत्न नियमित करो। कुछ समय बाद स्वयं ही आपकी स्थिति ऐसी बन जायेगी कि आप बिना प्रभु धन्यवाद किये रह ही नहीं सकेंगे। आपके द्वारा किया गया अभ्यास कुछ वर्षों के बाद आपको साधकों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देगा, जो हर श्वॉस के साथ प्रभुनाम के स्मरण में निरत रहते हैं।

जैसे किसी वस्तु का सङ्ग उसको तद्रूप करने का कार्य करता है, वैसे ही जब आत्मा अजर-अमर-अविनाशी सच्चिदानन्द परमात्मा के सानिध्य में बैठेगी, तो एक न एक दिन आत्मभाव ऐसा उत्पन्न होगा कि आपकी आत्मा शुचिता और आनन्द से पूरित दिखाई देगी; तब आप स्वयं अनुभव करेंगे कि प्रभु के सानिध्य से निश्चित ही मेरी आत्मा को कल्याण हुआ है।

(3) <u>कुसङ्ग से बचना</u> -

आपने शायद एक वाक्य सुना होगा - **'जैसा करोगे सङ्ग, वैसा चढ़ेगा रङ्ग'।** यह कहावत झूठी नहीं है। जिस काल में यह लिखी गयी होगी, उस काल में भी सत्य थी, आज भी सत्य है और भविष्य में भी सत्य ही रहेगी। हम सब जानते हैं कि सानिध्य का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य होता है। आज नहीं तो कल, जिस दिन आपके शुभ संस्कार कमजोर हुए, दुष्ट-सङ्गति का प्रभाव न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं कि दुर्जन की सङ्गति पाकर सज्जन मनुष्य भी दुर्जन बन जाते हैं। विद्वानों ने और कवियों ने इस बात को अपने-अपने ढंग से समझाने का प्रयास किया है। यथा -

कदली सीप भुजङ्ग मुख, स्वाति एक गुण तीन।
जैसी सङ्गति बैठिये, तैसो ही फल दीन॥

कहा जाता है कि स्वाति नक्षत्र में होने वाली वर्षा सबसे अधिक पवित्र होती है। लोकश्रुति है कि चातक उसी वर्षा का जल अपने मुख में प्रवेश करने देता है, अन्यथा वह पूरे वर्ष जल का पान नहीं करता। इससे यह धारणा तो निश्चित है कि स्वाति नक्षत्र में होने वाली वर्षा का जल सबसे अधिक पवित्र है। कवि का कथन है कि - स्वाति नक्षत्र में होने वाली वर्षा की बूँद यदि केले के अन्दर अपना आश्रय प्राप्त कर ले, तो कपूर बन जाती है। सीप के अन्दर वही बूँद रुक जाये, तो मोती बन जाती है और वही पवित्र बूँद यदि किसी सर्प के मुख में चली जाये, तो विष बन जाती है। बूँद पवित्र है, पर वह जिस स्थान पर रही, उसका प्रभाव उस पर आ गया और उसने वैसा ही रूप प्राप्त कर लिया। जब जल की बूँद सङ्गति के कारण अपने स्वभाव को बदल सकती है, तो क्या दुर्जन के सानिध्य में रहने वाला मनुष्य दुर्जन नहीं बनेगा ? अवश्य, अवश्य, अवश्य। तभी तो कहा है -

दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत्।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥

(हितोपदेश 1/81)

जैसे ठंडे कोयले को हाथ पर रख लें तो हाथ काला हो जाता है और गरम कोयले को हाथ पर रख लें तो हाथ जल जाताहै, उसी प्रकार दुष्टों की सङ्गति में रहने से मनुष्य भी दुर्जन बन जाता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह दुष्टों की सङ्गति से बचने का सदा प्रयत्न करे। गोस्वामी जी का कथन है –

दुष्ट सङ्ग न देय विधाता।
जाते भलो नरक को वासा ॥

चाहे नरक में रहना पड़े, पर दुर्जन की सङ्गति में मनुष्य कभी भी न रहे। क्योंकि दुर्जनों की सङ्गति वर्त्तमान का ही नाश नहीं करती, अपितु वह पारलौकिक जीवन को भी समाप्त कर देती है।

(4) <u>साधु-समागम</u> –

साधु-समागम का सामान्य अर्थ है – साधु पुरुषों के सानिध्य में रहना। हम प्रायः साधु शब्द को रूढ़ि अर्थ में प्रयुक्त करते हुए यह समझ लेते हैं कि जिसने गेरुवे वस्त्र पहन रखे हों, वह साधु है, पर ऐसा नहीं है। संस्कृत साहित्य में साधु का अर्थ सज्जन और कल्याणकर्त्ता अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस का सानिध्य जीवन में सज्जनता, सरलता और सत्यता के भाव को उद्भूत कर देता है, वह साधु है। जैसे दुर्जन का सङ्ग दुष्ट भाव को उत्पन्न कर देता है, ठीक उसके विपरीत सज्जनों का सानिध्य सात्विक भावों को उद्भूत करता है। आप किसी साधु पुरुष के सानिध्य में बैठकर अनुभूति करके देखें, आपके अन्दर शान्ति, सरलता और सात्विकता का भाव स्वयं उत्पन्न होने लगेगा। सज्जनता जीवन को छल-कपट-झूठ से बचाकर सत्यमार्ग पर ले जाती है, जिसमें अत्यन्त सहजता व सरलता है। इसको हम इसलिये नहीं समझ पाते कि हमने साधु पुरुषों का समागम करने का कार्य किया ही नहीं। हमारी स्थिति है कि दिन के अर्थोपार्जन के कार्य समाप्त करने के बाद हम टी.वी. और मोबाइल से अपने को जोड़ लेते हैं। आप मोबाइल में अनेकों ज्ञान की बातें भर लीजिये, पर मोबाइल आपको सदाचार की शिक्षा नहीं देगा और न आपको सन्मार्ग पर चलने की सम्मति प्रदान करेगा। यदि आप फेसबुक व ट्विटर के अभ्यासी बन चुके हैं जो आप उस लोक में पहुँच जायेंगे जहाँ आपने समय तो पूरा-पूरा व्यय किया, पर परिणाम के रूप में हाथ खाली रहे। और यदि कुछ प्राप्त भी हो गया तो खुरापातों का संसार अथवा राजस व तामस जगत् की वृद्धि करने वाली भावनाएं। यदि इसके स्थान पर आप साधु पुरुष का समागम करते, तो उनका उपदेश, उनका ज्ञान, उनका दर्शन आपको जीवन की पवित्रता से भर देता। तभी तो कहा है –

सम्भाषणं दर्शनं कीर्तनं स्मरणं तथा।
पावनानि किलैतानि साधुनामिति शुश्रुमः ॥

यदि साधु पुरुष से वार्तालाप का अवसर मिल जाये तो यह आपके जीवन का परमसौभाग्य होगा, जो आपके हृदयान्धकार को निर्मूल कर देगा। यदि यह सौभाग्य न मिला और मात्र आप उनके व्यक्तित्त्व का दर्शन ही कर सके, तो उनका

दर्शन आपको सकारात्मक भावों से पूरित कर देगा। यदि उनके चरणस्पर्श एवं आशीर्वाद लेने का सौभाग्य भी मिल जाये, तो उनका आशीर्वाद एक प्रकार से आपके लिए वरदान होगा। यदि वह सौभाग्य भी न मिल पाया हो, तो उन महापुरुषों का स्मरण और उनके कृतकार्यों का कथन आपको पवित्रता से भर देगा।

अब आप स्वयं ही अनुभव करेंगे कि साधु पुरुषों का समागम मात्र पवित्रता को ही जाग्रत नहीं करता, वरन् अहङ्कार, क्रोध, छल-कपट से विमुक्त कर, आपको इतना सरल और सहज कर देगा कि आपको संसार की निस्सारता और अपनी आत्मा के प्रति कर्त्तव्य का सद्ज्ञान स्वयं प्राप्त होने लगेगा।

उपर्युक्त चार सोपान लिखने-पढ़ने और सुनने में अत्यन्त सरल प्रतीत होते हैं, पर जब आप उन कार्यों को करने बैठेंगे तो आपको अनेकों कठिनाईयों का सामना करना पड़ेगा। कहा भी है -

इशारों से मुझको बुलाती है दुनियां,
तेरे रास्ते से हटाती है दुनियां॥

पर यदि तुम अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहे तो एक समय वह भी आयेगा कि यह भटकाने वाला संसार दास-भाव से स्वयं आकर तुम्हारे चरणों में लेट जायेगा।

इसलिये आओ, आप इन चार साधनों का अनुपालन कर, आत्मकल्याण में जुट जाओ, निश्चित ही इहलौकिक और पारलौकिक आनन्द व शान्ति के आप पात्र बन जायेंगे।

* घरेलू नुस्ख़े *

आचार्य श्याम

* पैर में मोच आने पर हल्दी और लहसुन को पीसकर पेस्ट बनायें और गुनगुना करके मोच के स्थान पर लगायें, अवश्य लाभ होगा।

* गुम् चोट लग जाने पर चोटसज्जी का छोटा टुकड़ा पीसकर हल्दी चूर्ण में पानी के साथ मिला लें। उसमें थोड़ा-सा चूना भी मिला लें और गुनगुना करके उस पेस्ट को चोट की जगह रात्रि में लगाकर सो जायें, अवश्य लाभ होगा।

* कान के दर्द के लिए थोड़े सरसों के तेल में हल्दी चूर्ण और कुछ नीम के पत्ते डालकर गर्म करें। जब पत्ते काले हो जायें तो उस तेल को छानकर शीशी में भर कर रख लें। सोते समय कान में दो बूँद तेल डालें, अवश्य दर्द समाप्त होगा।

* जी-मिचलाने पर आधे कटे नीबू में काला नमक और काली मिर्च का चूर्ण डालकर धीमी आग पर थोड़ा गरम कर लें और उसे चूसें, निश्चित लाभ होगा।

* 'आमल की रसायन' को प्रतिदिन शहद के साथ चाटने से कब्ज और ऐसिडिटीज़ दूर होती है।

* गाजर का रस यदि गुनगुना करके रोगी को प्रतिदिन पीने को दिया जाय, तो उसका पीलिया रोग ठीक हो जायेगा।

* 'लोहभस्म' प्रतिदिन शहद के साथ प्रातः-सायं चाटने से भी पीलिया रोग ठीक हो जाता है। एनीमिया अर्थात् खून की कमी होने पर भी आप इस औषधि का प्रयोग करें तो आपके शरीर में खून की कमी समाप्त होगी।

* देशी घी में बनी जलेबी को प्रतिदिन प्रातः नाश्ते से आधा या एक घंटा पूर्व गाय के दूध के साथ लिया जाय, तो माइग्रेन सहजता से समाप्त हो जाता है।

* अमरूद के पत्तों का काढ़ा बनाकर प्रतिदिन यदि कुल्ला किया जाय, तो दांतों के रोग ठीक हो जाते हैं।

* मैंथी के पत्तों का रस निकाल कर यदि गरारे किये जायें तो जीभ पर होने वाले छाले समाप्त हो जाते हैं।

* देशी कपूर और धागे वाली मिश्री को पीसकर चूर्ण बना लें। इसमें से थोड़ा सा चूर्ण छाले वाली जीभ पर डालकर मुंह नीचे कर लार टपकने दें। तुरन्त कुल्ला न करें। आपकी जीभ के छाले ठीक हो जायेंगे।

* कब्ज़ होने पर प्रतिदिन त्रिफला चूर्ण का सेवन करें। यदि चूर्ण न हो तो काली-राई का चूर्ण बनाकर गुनगुने पानी के साथ सोते समय आधा चम्मच सेवन करें, अवश्य लाभ होगा।

दिव्य जीवन के हीरे-मोती

आचार्य चन्द्रशेखर
पूर्ति अपार्टमेंट, विकासपुरी, नई दिल्ली

* याद रखिये, यदि आपका पैर फिसल जाये तो संभल सकते हैं, पर जुबान फिसल जाये तो यह गहरा घाव कर देती है।
* समय से पहले और समय पर कार्य करने वालों को समय का कभी अभाव नहीं रहता।
* जब समय होता है सोचते नहीं? जब सोचते हैं समय निकल चुका होता है। उन्नति उसी की होती है, जो प्रयत्नशील होते हैं।
* जो बीत गई, उसे याद न कर। आने वाली का ख्याल न कर। वर्त्तमान बरबाद न कर।
* क्रोध एक अग्नि है, जो दूसरों से पहले अपने का जला देती है।
* पाप हो, ऐसा कमाओ नहीं। क्लेश हो, ऐसा बोलो नहीं। रोग हो, ऐसा खाओ नहीं।
* गृहस्थाश्रम भक्ति में बाधक नहीं, अपितु साधक है।
* ईश्वर की चक्की धीरे चलती है, लेकिन बारीक पीसती है।
* दुर्लभ कुछ नहीं, केवल दृढ़ संकल्प चाहिये।
* दुनिया में रहो, लेकिन दुनिया को अपने में न रहने दो।
* तीखे और कड़वे शब्द कमजोर पक्ष की निशानी है।
* हृदय मन्दिर है, उसे जलाना नहीं। इसके माली बनो, मालिक नहीं।
* बड़ों के अनुभव से लाभ उठाना ही उनका सम्मान करना है।
* व्यक्ति अभाव से नहीं, अपितु दूसरों के प्रभाव से दुःखी है।
* बदले की भावना एक दिन की खुशी है, क्षमा करने की भावना हमेशा आनन्द एवं हर पल की प्रसन्नता है।
* जो है, उसमें सुखी रहें; जो नहीं है, उससे दुःखी न हों।
* जो स्वयं के पुरुषार्थ का है, वही अनुकूल और सुखद होता है।
* जड़ पदार्थों का सदुपयोग एवं प्राणियों के साथ सद्व्यवहार ही ईश्वर की सच्ची पूजा है।
* श्रद्धा से किया हुआ कर्म भी सुख देता है और उसका फल भी।
* दिन में ऐसे कर्म करें कि रात्रि में सुख से सो सकें। रात्रि में ऐसे कर्म करें कि दिन में मुँह दिखा सकें।
*जवानी में ऐसे कर्म करें कि बुढ़ापा सुख से व्यतीत हो।
* माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी की उपेक्षा करना प्रभु को ठुकराना है, क्योंकि ये सब सम्बन्ध प्रभु-कृपा से बनते हैं।
* दूसरों को हानि देकर लाभ लेना, लाभ नहीं धोखा है।

❐